भगवान महावीर का धर्मचक्र जगत का कल्याण करो

लोक में जीवद्रव्य ही उत्तम है

श्री कार्तिकेयस्वामी द्वादश अनुप्रेक्षा की लोकभावना में लोक के सभी द्रव्यों का कथन करने के बाद उनके साररूप गाथा २०४ में कहते हैं कि—सभी द्रव्यों में जीव ही उत्तम द्रव्य है, वही ज्ञान-सुख इत्यादि उत्तम गुणों का धाम है, और वही सर्व तत्त्वों में परम तत्त्व है—ऐसा हे भव्य! तुम निश्चय से जानो।

उत्तमगुणाणं धामं सव्वदव्वाणं उत्तम दव्वं।
तच्चाणं उत्तमं तचचं जीवं जाणेहि णिच्छयदो॥२०४

अंतरतच्चं जीवो बाहिरतच्चं हवंति सेसाणि।
णाणविहीणं दव्वं हियाहियं णेय जाणादि॥२०५॥

जीव अंतरतत्त्व है, और शेष सब बाह्यतत्त्व है; वे ज्ञानविहीन द्रव्य हित-अहित को या हेय-उपादेय को नहीं जानते; ज्ञानस्वभावी जीवद्रव्य ही हित-अहित को या हेय-उपादेय को जानता है, अतः जीव ही सबसे उत्तम सारभूत परमतत्त्व है—उसको पहचानो।

लोक में सारभूत सर्वश्रेष्ठ ऐसे सुंदर जीवद्रव्य को जो जीव जानता है, वह जीव लोक का शिखामणि हो करके सिद्धपद में सुशोभित होता है।

तंत्री—पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार संपादक—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
वीर सं. २५०१ आषाढ़ (वार्षिक चंदा रुपये ६=००) वर्ष ३१ अंक-३

परमागम को जानकर परमातम को अनुभवो

[परमागम-मंदिर प्रतिष्ठा महोत्सव के समय आत्मधर्म का एक लेख]

परमागम समयसार में शुद्धात्मा का स्वरूप दिखलाते हुए प्रभु कुन्दकुन्दस्वामी अनुरोध करते हैं कि मैं जो यह शुद्धात्मा दिखलाता हूँ, उसे तुम तुम्हारे ही स्वानुभव से प्रमाण करना। जिनागम यह मात्र देखने की या अकेले बाह्य सुशोभन की चीज़ नहीं है, उनके आंतरिक हार्द तक पहुँच कर स्वानुभव करने का है। अतः मात्र परमागम-मंदिर का भव्य उत्सव करके रुकने का नहीं है; जो परमागम उसमें खुदे गये हैं, उनके अभ्यास में निरंतर चित्त लगाकर, उनके हार्द तक पहुँच कर, आनंदमय परमात्मतत्त्व को अनुभूतिगम्य करजो।—यही जिनवाणी की सर्वोत्तम भक्ति है, और यही वीतरागगुरुओं की सेवा है। समयसार जिनागम के अंत में 'आनंदमय विज्ञानघन आत्मा को प्रत्यक्ष करता हुआ, यह अक्षय जगतचक्षु पूर्ण होता है'—ऐसा कहकर यह दिखलाया है 'आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव' इस आगम का फल है।

भावपूर्वक श्रुत की उपासना, सो जिनदेव की ही उपासना है। जिनदेव में तथा श्रुतदेवता में कोई अंतर नहीं; अतः जो भक्ति से श्रुत की उपासना करते हैं, वे जिनदेव ही उपासना करते हैं। हम लोग प्रतिदिन देव-गुरु के साथ शास्त्र की भी पूजा करते हैं, और तीन रत्नों में (देव-शास्त्र-गुरु तीन) इसकी भी गिनती करते हैं; किंतु, शास्त्र को मात्र उत्तम सुंदर जिल्द में बाँधने से श्रुतपूजा समाप्त नहीं हो जाती; वास्तविक श्रुतपूजा तो यही है कि—एकाग्रचित्त से उसका अध्ययन करके उसका भाव समझना। ऐसी भावपूजा में देव और शास्त्र की एकता हो जाती है। अभी हमें यहाँ पर जिनदेव के साक्षात्कार का सौभाग्य तो नहीं है, किंतु जिनवाणी का तो थोड़ा-सा साक्षात्कार होता है, और उसके अभ्यास से आत्मा का भी साक्षात्कार हो सकता है।

सुवर्ण से या मणि-रत्नों से जिनका मूल्यांकन नहीं हो सकता, ऐसे गंभीर आत्मभाव (-जो वीतरागी संतों के अनुभव में से निकले हुए रत्न हैं वे) समयसारादि परमागमों में भरे पड़े हैं, और उन्हीं से हमारे जैन-परमागमों की महानता तथा पूज्यता है; जिनागमों में जो गंभीर चैतन्यभाव भरे हैं, वैसा अन्य किसी शास्त्र में नहीं है।—ऐसा जानकर परम बहुमानपूर्वक जिनागम का सेवन करो... तुम्हें आत्मा का अपूर्व निधान मिलेगा। मुमुक्षु की निरंतर भावना है कि—

आगम के अभ्यासमाहीं पुनि चित्त एकाग्र सदीव लगावुं;
दोषवाद में मौन रहूँ फिर पुन्यपुरुष-गुण निशदिन गावुं।

वार्षिक चंदा
छह रुपये
वर्ष ३१वाँ
अंक ३

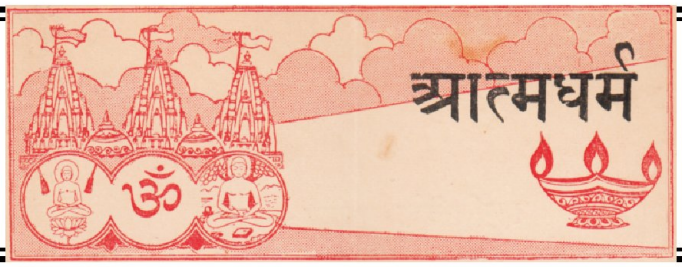

वीर सं. २५०१
आषाढ़
ई.स. १९७५
अगस्त

स्वानुभूति

आत्मानुभूति से बड़ा कोई शास्त्र इस जगत में नहीं है। समस्त शास्त्रों के कथन में से यदि सार और असार का पृथक्करण किया जाये, अर्थात् ज्ञान और राग इन दोनों का पृथक्करण किया जाये तो मात्र स्वानुभवरूपी सार ही शेष रहता है। अर्थात् समस्त शास्त्रों का सार स्वानुभव में समाता है, और जो असार है, वह स्वानुभूति से बाहर रह जाता है।

'सर्वज्ञदेव ने स्वानुभूति को जिनशासन कहा है।'

ज्ञान की अनुभूति, वह आत्मा की अनुभूति है, और यही जिनशासन का विधान है। वास्तव में उस अनुभूति से श्रेष्ठ कुछ है ही नहीं; वह ही समय का सार है।

धर्म का प्राण और धर्म का जीवन... माने स्वानुभूति।
धर्मात्मा का अंतरंग जीवन चरित्र... माने स्वानुभूति।
मोक्षमार्ग स्वानुभूति में समा जाता है।
अहा, उस स्वानुभूति को अतीन्द्रिय आनंद की छाप लगी हुई है।

साधक का चिह्न क्या ?
स्वानुभूति

सिद्ध प्रभु क्या करते हैं ?
स्वानुभूति

[नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते]

गंभीरस्वभावी अनंत ज्ञेय.... उनको जाननेवाले ज्ञान का गंभीर सामर्थ्य! वह ज्ञान निर्विकल्प है, आनंद से भरपूर है।

[प्रवचनसार के प्रवचन में से ज्ञानमहिमा का मधुर झरना]

* ज्ञानस्वभावी आत्मा है, उसके ज्ञान में समस्त ज्ञेयों को जानने का सामर्थ्य है। ज्ञान आत्मा का असाधारण स्वभाव है, उसकी ताकत भी असाधारण है।
* अनंत जीव, अनंतानंत पुद्गल, एक-एक प्रदेशी असंख्य कालद्रव्य, अनंतानंत प्रदेशी एक आकाशद्रव्य तथा धर्म-अधर्म द्रव्य—ऐसे अनंत ज्ञेयपदार्थ अपने-अपने अनंत गंभीर स्वभावसामर्थ्य सहित हैं।
* ऐसे समस्त गंभीर स्वभावी ज्ञेयों को एकसाथ जानने की ताकत ज्ञान की एक पर्याय में भरी है। अहा, ज्ञान की उस सामर्थ्य की क्या बात?
* विकल्प में या इंद्रियों में कुछ भी जानने की ताकत नहीं है। जानने की ताकत ज्ञान में ही है, और वह भी स्वसन्मुख होकर जब अतीन्द्रिय होता है, तभी ज्ञेयों के गंभीरस्वभाव को जान सकता है। विकल्प में या इंद्रियविषय में रुका हुआ ज्ञान तो ज्ञेय के स्वभाव को भी नहीं जान सकता।
* स्व-पर ज्ञेयों के गंभीरस्वभाव को जाननेवाला अतीन्द्रियज्ञान आनंद की छापवाला है; अनंत गुण के स्वाद से भरपूर आनंद का वेदन, वह सम्यग्ज्ञान का चिह्न है; जीव के सम्यग्ज्ञान होते ही उसके ऊपर अतीन्द्रियआनंद के स्वसंवेदन की मोहर लग जाती है; आत्मा का सच्चा ज्ञान कदापि आनंद से रहित नहीं होता।
* 'अनंत जीव इस जगत में हैं' इसमें तो अनंत सिद्धभगवंत का अस्तित्व भी आ गया; वे सिद्ध भगवंत अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय हैं; उनका निर्णय करते ही ज्ञान स्वोन्मुख होकर निर्विकल्प हो जाता है और अपने अनंत गुण के स्वाद का संवेदन करता है।
* किसी भी ज्ञेय के स्वभाव को जानने का सामर्थ्य राग-विकल्प में नहीं है; जो ज्ञान स्वोन्मुखी अतीन्द्रिय होकर अपने आत्मा को स्वज्ञेय बनावे, वही ज्ञान आकाश-काल आदि परज्ञेयों को यथार्थरूप से जान सकता है।

* छहों प्रकार के द्रव्य का परमार्थस्वभाव अतीन्द्रिय है; परमाणु-पुद्गल मूर्त होते हुए भी वह परमाणु, इंद्रियगम्य नहीं है। इसप्रकार अतीन्द्रियज्ञान से ही जाना जाये-ऐसा छहों द्रव्य का स्वभाव है।

* आकाशद्रव्य सर्व व्यापक है—जिसकी अनंतता का कहीं पार नहीं है—उसके अस्तित्व का स्वीकार जो ज्ञान करे, उस ज्ञान में आत्मा के अनंत सर्वज्ञस्वभाव का स्वीकार भी होगा ही। सर्वज्ञस्वभाव की सम्मुख होकर उसकी प्रतीत के बिना अनंत आकाश का स्वीकार नहीं हो सकता।

* उसीप्रकार परम सूक्ष्म ऐसा एकप्रदेशी कालद्रव्य, तथा उसकी पर्यायरूप एक समय, —उसे भी सर्वज्ञ ही प्रत्यक्ष जानते हैं, अतः सर्वज्ञस्वभाव के स्वीकार के बिना उस सूक्ष्म कालादि द्रव्यों का भी वास्तविक स्वीकार नहीं हो सकता।

* छहों द्रव्य का स्वभाव अतीन्द्रियज्ञान का विषय है। जो ज्ञान स्वसंवेदन से अतीन्द्रिय हुआ, आनंदरूप हुआ, सम्यक्त्वसहित हुआ, वही ज्ञान ज्ञेयपदार्थों को यथार्थ जान सकता है। उस ज्ञान का माहात्म्य अपार है। पदार्थ के गंभीर स्वभवा को ज्ञान के बिना दूसरा कौन जाने? वह ज्ञान स्वयं भी अपने अनंतगुण के स्वाद से गंभीर है।

* अब देखो, पदार्थ का गंभीर स्वभाव! आकाश के एक ही प्रदेश पर अनंत पुद्गल-परमाणु रहते हैं, फिर भी उस आकाश प्रदेश के अनंत भाग नहीं होते।

काल के एक ही समय में, एक जीव या परमाणु अनेक आकाशप्रदेशों का उल्लंघन कर जाता है, तो भी इससे कहीं उस समय के अनेक भाग नहीं होते। जैसे, कोई परमाणु एक ही समय में पाँच प्रदेश तक गमन करे तो भी समय के पाँच अंश नहीं होते।—यह तो परमाणु का ही ऐसा विशिष्ट गतिस्वभाव है। मोक्षदशा होने पर मुक्त जीव एक ही समय में स्वभावगति से यहाँ से लोकाग्र पहुँच जाता है—ऐसा ही विशिष्ट उसका गतिस्वभाव है, परंतु इससे कहीं 'समय' मेंअसंख्य भाग की कल्पना नहीं हो सकती।

अहो, वस्तु का स्वभाव ऐसा है कि विकल्प उसका पार नहीं पा सकता। वीतरागीज्ञान ही उसका पार पा सके—ऐसी ताकतवाला है। वस्तु के गंभीर स्वभाव का निर्णय करनेवाला ज्ञान निर्विकल्प हो जाता है।

* सर्वज्ञता की एक पर्याय में अनंत-आश्चर्यकारी सामर्थ्य है! आकाश की अनंतता भी जिसके पास अत्यंत छोटी दिखती है,—आकाश की अनंतता से भी जिसकी अनंतता का पूरा माप नहीं हो सकता—ऐसी अनंतगंभीरता ज्ञानस्वभाव में भरी हुई है। और 'ऐसा ज्ञानस्वभाव मैं हूँ'—ऐसी पहचान होते ही ज्ञान निर्विकल्प होकर स्वोन्मुख हो जाता है, उस पर अतीन्द्रिय आनंद के वेदन की मोहर लग जाती है; अनेक ज्ञेयों को जानता हुआ भी वह अपने चैतन्य के प्रशमरस में ही मग्न रहता है।

* अहा, ऐसा ज्ञानस्वभाव—वह भी एक ज्ञेय है, वह सर्वोत्कृष्ट स्वज्ञेय है; और अन्य अनंत ज्ञेयतत्त्व हैं। ऐसे स्व-पर ज्ञेयस्वभावों को जानने से उनमें कहीं राग-द्वेष नहीं होते, अपितु प्रशमभाव ही पुष्ट होता है। वाह रे वाह! वीतरागी जिनशासन ऊपर मैं वारि जाता हूँ! इसकी बलिहारी है। सर्वज्ञ भगवान के मार्ग की क्या बात! ऐसा मार्ग जैनदिगंबर संतों ने जगत को देकर महान उपकार किया है।

* अरे जीव! तेरे ज्ञान का स्वरूप तथा सामर्थ्य तो देख! उस ज्ञान में कहीं राग-द्वेष-विकल्प नहीं समाते; ज्ञान तो राग-द्वेष से भिन्न प्रशांतस्वरूपी है। अनंतानंत ज्ञेयों को जानते हुए भी कहीं राग-द्वेष न करे, ऐसा ज्ञान का स्वरूप है।

* जैसे एक आकाशप्रदेश में, खंड हुए बिना अनंतानंत परमाणुओं को एकसाथ स्थान देने की अचिंत्य ताकत है, वैसे एक ज्ञानपर्याय में, राग-द्वेष के बिना अनंतानंत ज्ञेयों को जान लेने का अचिंत्य सामर्थ्य है। उस ज्ञान में कितनी शांति है! अनंत गुण की कितनी गंभीरता उसमें भरी है!—जिसकी पहचान से सम्यग्दर्शन होता है।

* भाई! सर्वज्ञदेव का शासन पाकर आत्मा को प्राप्त करने का यह मौसम आया है। जैसे उद्यमी किसान बरसात के मौसम को नहीं चूकता, वैसे जिनप्रवचन की मधुर वर्षा के इस मौस्म में तू आत्महित करने का मत चूकना।

* अहा, देखो तो सही, जीव के ज्ञान की ताकत!

अनंत ज्ञेयों को जानते हुए भी उस ज्ञान में राग-द्वेषरूप जरा भी अशुद्धता नहीं होती, वह अपने समभावरूप स्वभाव में स्थिर रहता है। अनंत विधविध ज्ञेयों का ज्ञान एक साथ होते

हुए भी उस ज्ञान में कोई विकल्प नहीं होता। विकल्प, यह कहीं ज्ञान का काम नहीं है। और न विकल्प में ज्ञान का कार्य करने की ताकत है।

कहाँ ज्ञान का अगाध सामर्थ्य! और कहाँ विकल्प! दोनों में अत्यंत भिन्नता है।

* विकल्प तो अचेतन जैसा है, वह न अपने को जानता है, न पर को।
* ज्ञान तो स्व-पर सभी को विकल्प के बिना जानता है और स्वसंवेदन में चैतन्य के अनंतगुणों की शांति का वेदन करता है, ऐसी उसमें ताकत है।

ऐसा ज्ञान, वही आत्मा का स्वरूप है; उस ज्ञानस्वरूप में बहुत गंभीरता है, अनंतगुणों का वीतरागीस्वाद ज्ञान की अनुभूति में गर्भित है। ऐसी ज्ञान-अनुभूति करना, यही जिनशासन में भगवान तीर्थंकरदेवों का फरमान है; ज्ञान-अनुभूति ही मोक्ष का उपाय है, और वही जैनधर्म है।

ऐसी अनुभूतिस्वरूप जैनधर्म जयवंत हो।
ऐसी अनुभूति वही जैनधर्म का धर्मचक्र है।
भगवान महावीर का धर्मचक्र विश्व का कल्याण करो।

गंभीरस्वभावी ज्ञेयों को वीतरागीज्ञान ही जानता है; स्व-पर को जानने का सामर्थ्य विकल्प में नहीं है।

अनेकान्तस्वरूपी ज्ञेयपदार्थ का स्वरूप ऐसा अगाध गंभीर है कि वह स्वोन्मुख अतीन्द्रियज्ञानपूर्वक ही जानने में आ सकता है। वह अतीन्द्रियज्ञान महान आनंद को भोगता हुआ जयवंत रहता है और मोक्ष को साधता है। ऐसा आनंदमय ज्ञान भगवान वीरनाथ के शासन में ही प्राप्त होता है, अतः सत्पुरुष भगवान के उपकार को नहीं भूलते।

* विश्व के जीव-अजीव सभी तत्त्वों में महिमावंत तत्त्व कौन है ?
  आत्मतत्त्व सबसे इष्ट महिमावंत है, क्योंकि ज्ञान व सुख आत्मतत्त्व में ही है, अन्य तत्त्व के अस्तित्व को भी वही जानता है।
* विश्व में आत्मा कितने हैं ?
  विश्व में भिन्न-भिन्न अनंतानंत आत्मा हैं।
* विश्व में संख्या की अपेक्षा से कौन सा द्रव्य सबसे अधिक है ?
  पुद्गल-परमाणु अनंतानंत हैं; जीवों से भी पुद्गलों की संख्या अनंतगुणी है।
* क्षेत्र की अपेक्षा से सबसे बड़ा द्रव्य कौन है ?
  आकाशद्रव्य सबसे महान, सर्वव्यापी है।
* क्षेत्र अपेक्षा से सबसे छोटे द्रव्य कौन है ?
  कालद्रव्य तथा परमाणुद्रव्य—वे एक ही प्रदेशवाले हैं। अतः सबसे छोटे हैं।
* कौन सा द्रव्य मध्यमक्षेत्रवाला है ?
  जीवद्रव्य के असंख्य प्रदेश हैं। अतः वह मध्यमक्षेत्रवाला है।
* जीव के समान ही प्रदेशवाले अन्य कौन द्रव्य हैं ?
  धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य, इन दोनों के प्रदेश जीव के समान ही हैं।

* संख्या की अपेक्षा से सबसे थोड़ा द्रव्य कौन है ?

आकाशद्रव्य एक ही है—सबसे बड़ा होता हुआ भी वह एक ही है; धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य भी एक-एक ही है। कालद्रव्य असंख्यात हैं; जीवद्रव्य अनंत हैं; पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं।

* काल की अपेक्षा से सबसे बड़ा द्रव्य कौन है ?

काल अपेक्षा से सभी द्रव्य अनादि-अनंत त्रिकालवर्ती होने से समान हैं, कोई आगे-पीछे नहीं है। अतः छोटा-बड़ा नहीं है।

* भावअपेक्षा से सबसे महान कौन है ?

वैसे तो सभी द्रव्य अपने-अपने अनंत गुणरूप स्वभाववाले हैं; परंतु उनमें आत्मा के केवलज्ञानस्वभाव का कोई अचिंत्य विशिष्ट सामर्थ्य है, अतः भावअपेक्षा से केवलज्ञानस्वरूपी आत्मा सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है।

* ऐसे सर्वोत्कृष्ट आत्मतत्त्व का निर्णय करने से क्या फल होता है ?

ज्ञान निर्विकल्प होकर अतीन्द्रिय आनंदरूप परिणमता है।

* क्या विकल्प के द्वारा आत्मा का स्वरूप समझ में आता है ?

ना; क्योंकि विकल्प आत्मा का स्वरूप नहीं है। विकल्प बहिर्मुख है, ज्ञान अंतर्मुख है।

* क्या विकल्प के द्वारा पर का स्वरूप समझ में आता है ?

ना; स्व-पर दोनों का स्वरूप सम्यग्ज्ञान से ही जाना जाता है। जिसने अपने आत्मा को सम्यग्ज्ञान से नहीं जाना, उसको पर का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता। स्व-पर का सच्चा ज्ञान उसके ही होता है—जिसने राग और ज्ञान का भेदज्ञान किया हो। जहाँ राग और ज्ञान का एक-दूसरे में मिलान हो, वहाँ शुद्ध ज्ञान अर्थात् सत्य ज्ञान नहीं होता और सत्य ज्ञान के बिना स्व-पर को कौन जानेगा ?

* अनेकांतस्वरूपी ज्ञेयपदार्थों का स्वरूप ऐसा गंभीर है कि स्वसन्मुख अतीन्द्रिय ज्ञानपूर्वक ही वह जानने में आ सकता है। वह अतीन्द्रिय ज्ञान महान आनंदवाला है। ऐसा आनंदमय ज्ञान भगवान वीरनाथ ने हमें दिया है। अतः भगवान के उपकार को हम कभी नहीं भूलेंगे।

सावधान! रत्न को फेंक नहीं देना

एक मनुष्य समुद्र-किनारे बैठा था।

उसके हाथ में यकायक एक थैली आई-जो अच्छे-अच्छे पत्थरों से भरी हुई थी। अंधेरे में वह मनुष्य उन पत्थरों से खेलने लगा; खेलते-खेलते एक के बाद एक पत्थर लेकर वह समुद्र में फेंकने लगा। फेंकते-फेंकते अंत में उसके हाथ में एक आखिरी पत्थर रहा, उसे भी वह समुद्र में फेंक ही रहा था कि किसी सज्जन पुरुष ने आवाज दी—सबूर... सबूर! ओ भैया! रुक जा, रुक जा! उसको मत फेंक देना। तेरे हाथ में जो है, वह सामान्य पत्थर नहीं है, वह तो बहुत मूल्यवान रत्न है!

अब कुछ प्रकाश हो चुका था; सज्जन के वचन पर विश्वास करके प्रकाश में उस मनुष्य ने अपने हाथ में रखी हुई वस्तु को देखा... देखते ही वह चकित रह गया... झगमगाता महान रत्न उसके हाथ में पड़ा था। वह विचार करने लगा—अरे रे! मैं कैसा मूर्ख? मेरे पास तो ऐसे रत्नों की पूरी थैली भरी हुई थी, और मैंने अनजाने में मूर्खतापूर्ण खेल में ये सब रत्न समुद्र में फेंक दिये... अरेरे! हाथ में आये हुए भी अमूल्य निधान को अज्ञान से मैंने खो दिया।—ऐसे विचार से वह रुदन करने लगा।

तब सज्जन ने उसे कहा—भाई! तू घबड़ा मत... दु:खी मत हो... तू सब कुछ नहीं हार गया, अभी भी एक रत्न तेरे हाथ में बचा है। यह रत्न भी ऐसा मूल्यवान है कि यदि उसके मूल्य को पहचानकर अच्छी तरह सदुपयोग करेगा तो जीवनपर्यंत तेरे को उत्तम सुख-संपत्ति मिलती रहेगी। इस एक रत्न से भी तेरी सभी आवश्यकता पूरी होगी। अत: जो रत्न चले गये, उन का सोच मत कर, किंतु अभी जो रत्न तेरे हाथ में है, उसका सदुपयोग कर ले।—'जब जागे तभी सबेरा।'

[तब उस मनुष्य ने अपने हाथ में बचे हुए रत्न का सदुपयोग किया और वह सुखी हुआ।]

वीर बंधुओं! किसकी है यह बात?—जानते हो? अन्य किसी की नहीं, अपितु स्वयं तुम्हारे जीवन की ही यह बात है।

'हें!'-जी हाँ! सुनो—

तुम इस संसार समुद्र के किनारे बैठे हो; अभी तक ज्ञानसूर्य का उदय नहीं हुआ, अतः अंधेरा है।

जैसे उस मनुष्य को रत्न से भरी हुई थैली मिली थी, वैसे तेरे को इस संसार में बहुबार रत्नचिंतामणि जैसा मनुष्य अवतार मिला। परंतु उस मनुष्य अवतार को पाकर क्या करना चाहिये, इसकी पहिचान के बिना, बेभान से विषय-कषायों के खेल में ही तूने मनुष्यभवरूपी रत्न को संसार के समुद्र में फेंक दिया। एक के बाद एक ऐसे अनंत मनुष्य भवों को समुद्र में फेंक दिये... और व्यर्थ गमाये। अभी यह अमूल्य मनुष्यभव तेरे हाथ में है।

ज्ञानी-संत तेरे को सावधान करते हैं कि—अरे जीव! तू इस मनुष्य अवतार को विषय-कषायों में मत फेंक देना। यह मनुष्य अवतार कहीं विषय-कषायों के लिये नहीं है, यह मनुष्य अवतार तो आत्मा का अपूर्व कल्याण करने के लिये चिंतामणिरत्न के समान है... तेरा हित करने का अवसर अभी तेरे हाथ में है—ध्यान रखना! उसे फेंक नहीं देना।

जैनधर्म के सच्चे देव-गुरु के ऊपर जिसका विश्वास है और जिसके आत्मा में मुमुक्षुता का कुछ-कुछ प्रकाश निकला है—ऐसा जिज्ञासु जीव जब अपने जीवन का (अनंत भवभ्रमण का) विचार करता है, तब वह चकनाचूर बन जाता है कि अरे! कितने भव मैंने निष्फल गँवा दिये! इस मनुष्य अवतार में इतने सुंदर-सत्य-शिवंकर देव-गुरु-धर्म मुझे मिले हैं—वे अमूल्य रत्न हैं; ऐसे रत्न मेरे हाथ में आये हैं; अभी मनुष्य भव में हित का अवसर है। तो अब इस अवसर को मैं पाप में नहीं गँवाऊँ। अरे रे, मैंने कैसी मूर्खता की कि इतने भव अज्ञान में मूर्खता से मैंने राग-द्वेष के सेवन में ही व्यर्थ गँवा दिये!

तब संत-ज्ञानी उसे कहते हैं: रे भाई! तू घबड़ा मत! अभी तू सब कुछ नहीं हारा, अभी भी जैनधर्म का रत्न तेरे हाथ में है, यह रत्न इतना अपूर्व मूल्यवान है कि यदि उसका सच्चा मूल्य पहचान करके तू उसका सदुपयोग करेगा, अर्थात् उसके उपदेश अनुसार आचरण से जीवादि तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान करेगा, तो सारे जीवन में तथा भविष्य में सदा के लिये तुझे

आत्मा की अपूर्व शांति मिलेगी; अनंत भव की नुकसानी इस एक ही भव में धर्म सेवन से दूर हो जायेगी और सुख का महान लाभ होगा। इस एक भव को भी आत्मा की साधना के लिये समर्पित कर दे तो तेरा अपूर्व कल्याण होगा। अत: जो भव बीत चुके, उसका खेद छोड़कर, अभी जो धर्म का अवसर तेरे पास है, उसका सदुपयोग कर ले। —'जभी जागे तभी सबेरा।'

'देव-शास्त्र-गुरु रतन शुभ तीन रतन करतार'

ऐसे रत्न अभी हाथ में ही हैं, इनका सदुपयोग करके सुखी बनो।

यह मानुष पर्याय, सकुल, सुनिवो जिनवाणी;
इहविधि गये न मिले, सुमनि ज्यों उदधि समानी। —छहढाला

—: सोनगढ़ में जैनदर्शन शिक्षणवर्ग —

प्रतिवर्ष की तरह इस वर्ष भी सोनगढ़ में तत्त्वजिज्ञासु जैन भाईयों के लिये जैन-सिद्धांत का शिक्षणवर्ग २० दिन तक चलेगा। यह शिक्षणवर्ग श्रावण सुद पंचमी दिनांक ११-८-७५, सोमवार से प्रारंभ होकर भाद्र वद ८ (गुजराती श्रावण वद ८) दिनांक ३०-८-७५ शनिवार तक चलेगा।

वर्ग में मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह तथा जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला की पढ़ाई होगी। आपके पास ये पुस्तकें हो तो साथ में लाईए। शिक्षणवर्ग में आने की जिसकी भावना हो वे अपने आने की सूचना निम्न पते पर अवश्य भेज दें।

'शिक्षणवर्ग'-श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर, सोनगढ़ (३६४२५०)

श्री दसलक्षणी-पर्युषणपर्व भाद्र सुद पंचमी बुधवार दिनांक १०-९-७५ से प्रारंभ होकर भाद्र सुद चतुर्दशी शुक्रवार दिनांक १९-९-७५ तक मनाया जावेगा; दशधर्म के ऊपर प्रवचन, पूजनादि कार्यक्रम होगा। इसके पहले भाद्र कृष्ण १३ बुधवार, दिनांक ३ से भाद्र शुक्ला पंचमी बुधवार दिनांक १० तक विशेष प्रवचन होगा।

अपूर्व शांति पाने के लिये आत्मा को पहिचानो

[लेखांक : ७]

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा यह भगवान महावीर के धर्मचक्रप्रवर्तन का मंगल दिवस है। अहा, उस दिन राजगृही में विपुलाचल के ऊपर कैसा महान अपूर्व आनंदकारी धर्मोत्सव देव-मानव-तिर्यंचों ने मनाया होगा! प्रभु के जिस दिव्य उपदेश का एक छोटा-सा अंश भी, आज (ढाई हजार बत्तीस वर्षों के बाद भी) हमें ऐसा महान आनंद व शांति दे रहा है—उन प्रभु की सर्वज्ञता की तथा उनके इष्ट उपदेश की क्या बात? ऐसे उपकारी वीरप्रभु को याद करते हुए उनके धर्मोपदेश का शांतरस हम सबको पीना है!—यही है सच्चा निर्वाण महोत्सव। —संपादक

[आप यह समाधिशतक के प्रवचनों का सार पढ़ रहे हो।]

वैशाख शुक्ला दसमी को भगवान महावीर केवलज्ञान प्रगट करके सर्वज्ञ-अरिहंत-तीर्थंकर हुए; और श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से उन्होंने विपुलाचल पर दिव्यध्वनि के द्वारा निर्वाण का मार्ग दिखलाया। निर्वाण का वह मार्ग अंतर में आत्मस्वभाव के आश्रित है। आत्मा की शक्ति को जो नहीं जानता, वह पर के आश्रय की पराधीनबुद्धि से संसार में रुलता है। आत्मा दैवी चैतन्य-शक्तिवाला देव है, वह स्वयं अपना आराध्य देव है; अंतर्मुख दृष्टि-ज्ञान-रमणता से उसकी आराधना करना, यही निर्वाणमार्ग है, और यही निर्वाण का महोत्सव है।

मेरा ज्ञायकमूर्ति आत्मा ही मेरा उपादेय है—ऐसा जानकर स्वभाव का साधन किये बिना अन्य कोई मोक्ष का उपाय नहीं है; अतः मोक्षार्थी जीवों को देह से भिन्न स्व-संवेद्य ज्ञानानंदतत्त्व जानने का उपदेश है।

मोक्ष तो देह से रहित है, राग से भी रहित है; देह को या राग को जो आत्मा का स्वरूप मानेगा, वह उनसे कैसे छूटेगा? चैतन्यभाव देह से व राग से पार है, उसका स्व-संवेदन ही मोक्ष का उपाय है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा के अंतरंग परिचय के बिना शुभराग से जो भी व्रत-तप किया जाये, उससे मुक्ति का मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता। जो देह को तथा राग को ही आत्मा माने, वह उनसे भिन्न कैसे होगा? देह से पार, राग से पार, चैतन्यस्वरूप मैं हूँ—ऐसा अनुभव करके उसमें एकाग्र होकर जीव मुक्त होता है। ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा में एकाग्रता के बिना सब निरर्थक है, उससे निर्वाणपद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ज्ञानी जानते हैं कि—अंतर में स्वानुभव से प्रसिद्ध ऐसा मेरा परमात्मतत्त्व है, वही मैं हूँ, और जो मैं हूँ, वही परमात्मतत्त्व है। इसप्रकार परमात्मतत्त्व में अभेदता होने से मैं ही मेरा उपास्यदेव हूँ, मेरे से भिन्न अन्य कोई मेरा उपास्य नहीं है—यही वस्तुस्थिति है। आराध्य-आराधक भाव की व्यवस्था अपने स्वतत्त्व में ही समाप्त हो जाती है।

जीव रागादि-कषायों से तो छूटना चाहता है; जिनसे छूटना चाहता है, वे ही छूटने में सहायरूप कैसे हो सकते हैं?—नहीं हो सकते। रागादि-कषाय मुक्ति पाने में मददगार नहीं हो सकते। राग के द्वारा मोक्षमार्ग होगा—ऐसा जो मानते हैं, उन्हें राग-कषाय से छूटने की सच्ची भावना ही नहीं है। पुण्य करते-करते मोक्ष का द्वार खुल जायेगा-ऐसा माननेवाले को मोक्ष की सच्ची भावना ही नहीं है, मोक्ष को वह पहचानता भी नहीं है।

यदि भगवान ने राग से लाभ होने का बतलाया हो तो वे भगवान स्वयं ही राग में क्यों नहीं रके? क्यों उन्होंने राग छोड़कर वीतरागता अपनाई? भगवान स्वयं राग को छोड़कर वीतरागस्वरूप में स्थित हुए—इसी से मालूम होता है कि राग छोड़ने का ही भगवान का उपदेश है; राग से लाभ होने का जो मानता है, वह भगवान के उपदेश को नहीं मानता।

जो राग को धर्म समझकर राग को ही साधता है, वह भगवान के मार्ग में चलनेवाला नहीं है। अरे जीव! तुझे सर्वज्ञ के मार्ग में आना हो तो तू राग की भावना छोड़कर चिदानंदस्वभाव की ही भावना कर; उसकी भावना में एकाग्र होकर चैतन्य प्रतिमा जैसा बन जा! यही परमात्मा का मार्ग है; इस मार्ग पर चलनेवाला परमात्मा बन जाता है।

आत्मा और देह का भेदज्ञान करके चैतन्य में एकाग्र होनेवाला धर्मात्मा आनंद से आह्लादित है, वे चैतन्य के आनंद में झूमते हैं, शांतरस में मग्न हुए हैं; वहाँ उपवासादि तपश्चरण सहज ही बन जाता है, उसमें उन्हें खेद नहीं लगता। अरे, चैतन्य के अनुभव में दुःख

कैसा ? भगवान ऋषभ-मुनिराज ने छह मास तक तो ऐसा ध्यान लगाया कि चैतन्य के आनंद का वेदन करते हुए आहार की वृत्ति ही नहीं हुई; उससमय उन्हें दुःख नहीं था; इसके बाद भी छह मास तक तप किया; एक वर्षोपरांत के उपवास हुए, किंतु परिणाम में कोई खेद या आकुलता नहीं थी, चैतन्यसाधना का आनंद था। आनंद में लीन होकर ज्ञानी मुक्ति को साधते हैं। मुक्ति के साधन में जिसको दुःख लगे, उसने मुक्ति का मार्ग जाना ही नहीं। मुक्ति यह तो परमानंद की प्राप्ति है, और उसका उपाय भी आनंदमय है, उसके उपाय में बाह्य कैसी भी प्रतिकूलता हो तो भी आत्मा के आनंद से आनंदित संतों को कोई दुःख या खेद नहीं होता। देह और संयोग से अपने को भिन्न जानकर जो आत्मा में ही लीन हुआ, उसको दुःख कैसा ? चैतन्य का स्वभाव ही आनंद है 'आनंदो ब्रह्मणो रूपं'—इसके चिंतन में दुःख कैसे हो सकता है ? अहो, ज्ञानी के तो आत्मअनुभव में अपूर्व आनंद है, किंतु संयोगदृष्टि से देखनेवाले अज्ञानी लोग ज्ञानी के अंतरंग आनंद को नहीं जान सकते, अतः प्रतिकूल संयोग से वे उनको दुःखी मान लेते हैं। कोई ध्यानस्थ मुनिवर के शरीर को सिंह खा रहा हो, यह देखकर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि—'अरे रे ! इन मुनि को महान दुःख होता होगा !' अरे भाई ! उन वीतराग संतों के तो अंतर में चैतन्यस्वरूप की लीनता से महान सुख है, महान आनंद है; सिंह शरीर को खा जाये, इससे उनको क्या ? वे तो अशरीरी आत्मा को जानते हुए उसी में लीन रहकर आनंद से मोक्ष की साधना में मस्त हैं।

हाँ, साधक संत धर्मात्मा के ऊपर उपसर्ग आने पर उसको दूर करने का भाव धर्मी-भक्तों को आये बिना नहीं रहता, परंतु वह रागभाव उन संतों को दुःखी मान करके नहीं आता, अपनी रागभूमिका के कारण भक्तिभाव से ऐसी वृत्ति आती है। संयोग की ओर जिसका झुकाव है, उसको ही राग-द्वेष होता है और उसको ही दुःख होता है; किंतु संयोग की ओर जिसका झुकाव नहीं है, स्वभाव में ही स्थिरता है, ऐसे संतों को राग-द्वेष या दुःख नहीं होता, किसी भी संयोग में उन्हें आनंद की ही अनुभूति रहती है; और चैतन्य के आनंद में लीन होकर वे मुक्ति को पाते हैं।

बाह्य वस्तु में इष्ट-अनिष्ट बुद्धिवाला जीव राग-द्वेषमय बुद्धि के कारण आनंदमय चैतन्यवस्तु को नहीं देख सकता। जिसको कहीं पर इष्ट-अनिष्टबुद्धि नहीं है, ऐसा शांत-उपयोगवाला जीव ही अपने परम तत्त्व को देखता है। अंतर में चैतन्यशक्ति का निर्विकल्प वेदन

जब तक न हो, तब तक सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। संकल्प-विकल्पों से विमुख शांतचित्त होकर चैतन्यस्वभाव में तन्मय होकर निर्विकल्प शांति का वेदन करे, तभी जीव को सम्यग्दर्शन होता है; और इसके बाद ही मुनिदशा होती है। सम्यग्दर्शन में भी समाधि तो है, परंतु मुनिदशा में विशेष वीतरागी समाधि होती है।

अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप के सम्मुख होते ही राग-द्वेष की तरंगें शांत हो जाती हैं; आत्मसम्मुखता के बिना अन्य किसी भी उपाय से राग-द्वेष की तरंगे शांत नहीं होती। बाह्य की अनुकूलता के लक्ष से जो शांति जैसा परिणाम दिखे, वह सच्ची शांति नहीं है; अंतरंग चैतन्यस्वभाव के वेदन से ही राग-द्वेष के अभावरूप सच्ची शांति होती है। अंतर्मुख उपयोग की निर्विकल्पता में परमात्मतत्त्व आनंदसहित स्फुरायमान होता है—प्रगट अनुभूति में आता है। ऐसा अनुभव बढ़ते-बढ़ते राग-द्वेष छूटता जाता है और वीतरागी समाधि होती जाती है। तब बाह्य की किसी भी अनुकूलता-प्रतिकूलता में उसका चित्त चलित नहीं होता। स्वरूप की लीनता में जो अचिंत्य आनंद है, उसको धर्मी ही जानते हैं, बाह्यदृष्टि लोग उसको नहीं जानते। अतः हे जीव! तू तेरे ज्ञान को अंतर्मुख स्थिर करके तेरे चैतन्यस्वरूप के आनंद को देख।

बाह्यविषयों में घूमनेवाला संकल्पसहित मन संसार का कारण है, और चैतन्य में स्थित निर्विकल्प मन मोक्ष का कारण है। बाह्यविषय का चिंतन संसार का कारण है, चैतन्य-विषय का चिंतन मोक्ष का कारण है; अतः चित्त को चैतन्यस्वरूप के चिंतन में स्थिर करने का प्रयत्न करो—ऐसा पूज्यपादस्वामी का उपदेश है।

जिसमें सुख की अनुभूति हो, उसमें ज्ञान ठहरता है। पर में जिसको सुख लगे, उसका ज्ञान पर से हटकर स्व में नहीं ठहरता; राग में जिसको सुख लगता है, उसका ज्ञान राग से हटकर स्वभाव में नहीं ठहरता। आनंद तो आत्मा का स्वभाव ही है, अतः आत्मा स्वयं ही आनंदरूप परिणमित होता है।—ऐसा निर्णय करके जो जीव स्वोन्मुख होता है, उसका चित्त अविक्षिप्त होता है; वह रागादि से विक्षिप्त नहीं होता।

अरे, आत्मा का वास्तविक आनंद कैसा है—उसकी जगत को खबर नहीं है, और भ्रमणा से बाह्य विषयों में से आनंद लेने की लालसा से उसका चित्त सदैव बाहर में घूमता रहता है। अतः राग-द्वेष से यह विक्षिप्त रहता है, शांत नहीं होता। और अंतर्मुख होकर चैतन्य के

अतीन्द्रिय आनंद में जिसका चित्त लगा है, उसको शुभाशुभ विषयों की लालसा नहीं रहती, अत: राग-द्वेष से वह विक्षिप्त नहीं होता। आत्मा का आनंद 'निर्विषय' है अर्थात् विषयातीत है; अहा, स्वयमेव निजस्वभाव से आत्मा आनंदरूप हुआ, तब जगत के बाह्य विषय उसको क्या करेगा? जगत का कोई अनुकूल विषय उसे ललचा नहीं सकता, एवं कोई प्रतिकूल विषय उसे चलित नहीं कर सकता; उसका चित्त राग-द्वेषरूप विक्षेप से दूर होकर समभाव में स्थित हुआ है; ऐसा अविक्षिप्त चित्त ही मोक्ष का कारण है; अत: हे भव्य जीवो! आनंदस्वरूप आत्मा को पहचानकर चित्त को उसमें स्थिर करो—ऐसा संतों का उपदेश है।

अपने ज्ञानतत्त्व के संस्कार की दृढ़ता से स्वरूप में स्थिर होने से राग-द्वेष का नाश हो जाता है। ज्ञानस्वभाव की भावना से जिसने अपने चित्त को स्वरूप में एकाग्र करके अविक्षिप्त किया है, उसे मान-अपमान के द्वारा विक्षेप नहीं होता; मान-अपमान होने पर उसी का चित्त क्षुब्ध होता है, जिसका चित्त चैतन्यभावना में एकाग्र नहीं हुआ है।

इसने मेरा अपमान किया, इसने मेरा सम्मान किया—उसने मेरी निंदा की, उसने मेरी प्रशंसा की—मान-अपमान की ऐसी कल्पना जीव को तब तक सताती है, जब तक कि ज्ञान अपने में नहीं ठहरता। चैतन्य के आनंद में लीन होने पर यह विकल्प ही नहीं रहता कि कौन मेरी स्तुति करता है? या कौन मेरी निंदा करता है?—उसको तो ज्ञानभावना में सर्वत्र समभाव ही रहता है।

देखो, यह जैन संतों की समाधिदशा!—ऐसी वीतरागी समाधि कब हो?—कि जब ज्ञानस्वभाव की पहचान करके उसमें निश्चलता का दृढ़ संस्कार हो, तभी वीतरागी समाधि होती है।

मेरे ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई मेरा नहीं है, इंद्रियों का मुझे आधार नहीं है, राग में मेरा शरण नहीं है—भेदज्ञान की ऐसी भावना में तत्पर ज्ञानी को अपना मान-अपमान नहीं दिखता। मेरी महत्ता तो मेरे ज्ञानस्वभाव से ही है; मेरे ज्ञानस्वभाव की महत्ता को तोड़नेवाला जगत में कोई नहीं है।

—इस प्रकार अपने स्वभाव की महत्ता जिसको नहीं दिखती, और परद्रव्य के संयोग द्वारा जिसने अपनी महत्ता मान रखी है—ऐसे अज्ञानी को मान-अपमान ही दिखता है; कोई

अपमान करे–निंदा करे–द्वेष करे, तब उसको ऐसा लगता है–मानों मेरा स्वभाव ही हता गया; और बाहर में अनुकूलता मिले–बहुमान मिले–तब उसे ऐसा लगता है–मानों मेरा स्वभाव ही बढ़ गया। ऐसी मान–अपमान की वृत्ति अज्ञानी के होती है। ज्ञानी को इसप्रकार की मान–अपमान की वृत्ति नहीं होती, क्योंकि परसंयोग से वे अपने आत्मा की हीनता या अधिकता नहीं मानते।

कोई निंदा करे या प्रशंसा, उन दोनों से भिन्न मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ, निंदा या प्रशंसा के शब्द मेरे में प्रवेश नहीं पाते; निंदा करनेवाला उसके अपने द्वेषभाव को ही करता है, प्रशंसा करनेवाला उसके अपने रागभाव को करता है, किंतु मेरे ज्ञान में तो वे कुछ नहीं करते। ऐसे भेदज्ञान से धर्मी जीव के मान–अपमान की बुद्धि नहीं रहती।

स्वभावभावना से ही मान–अपमान की वृत्ति मिटकर समाधि–शांति होती है। भरत तथा बाहुबली दोनों बंधु चरमशरीरी थे, सम्यग्दृष्टि थे; भरत जब चक्रवर्ती हुआ और बाहुबली को नमस्कार करने को कहा, तब बाहुबली को ऐसा हुआ कि हमारे पिताजी (ऋषभदेव) ने हमको दोनों को अपना–अपना राज्य दिया है, भरत राजा है तो मैं भी राजा हूँ, तब फिर भरतराज को मैं नमस्कार क्यों करूँ? बड़े भाई के नाते से मैं उन्हें वंदन कर सकता हूँ, किंतु राजा की वजह से नहीं; मैं राजा हूँ, मेरे ऊपर दूसरा राजा नहीं हो सकता।—ऐसे कुछ मान की वृत्ति बाहुबली को आई। भरतराज को भी मान की वृत्ति आई कि मैं चक्रवर्ती हूँ, बाहुबली मुझे नमस्कार करके ही राज्य कर सकता है, अन्यथा नहीं। आखिर में दोनों भाई–भाई के बीच में युद्ध हुआ; भरत हार गये; तब उसे अपमान की कुछ खटक हुई; ऐसी परिस्थिति के समय भी दोनों धर्मात्माओं को अपने ज्ञानस्वभाव की ही भावना है, ज्ञानस्वभाव की भावना से छूटकर राग–द्वेष की वृत्ति नहीं हुई; ज्ञानभाव की ही अधिकता है। मान–अपमान की वृत्ति के समय वे अज्ञानी थे—ऐसा नहीं है, उस समय भी उनकी ज्ञानचेतना मान–अपमान से रहित जीवंत है, उनके अंतर में ज्ञानभावना का जोर है, अतः उसका ज्ञान मान–अपमानरूप परिणमित नहीं होता; ज्ञानी के इस भाव को अज्ञानी नहीं पहचान सकता।

ज्ञानस्वभाव की भावना में ज्ञानी को ज्ञान का ही परिणमन है, मान–अपमान का भाव ज्ञान से तन्मय नहीं। राग–द्वेष की वृत्ति को तथा ज्ञान को भिन्न–भिन्न जानता हुआ ज्ञानी, सदैव

ज्ञान की ही अधिकतारूप परिणमते हैं। किंतु जिसको ऐसा भेदज्ञान नहीं है, ऐसा अज्ञानी, ज्ञानी की राग-द्वेष की वृत्ति को ही देखता है, उसकी ज्ञानचेतना को वह नहीं देखता, अतः उसको ऐसा भ्रम होता है कि ज्ञानी राग-द्वेष को ही करते हैं। परंतु राग के समय भी उससे पार ज्ञानचेतना को ज्ञानी कर रहा है—उसे तो ज्ञानी ही पहचानते हैं।

किसी भी प्रसंग में—चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल—चैतन्यभावना में रत ज्ञानी जीव अपने सम्यग्दर्शनादि से च्युत नहीं होता, ज्ञानभाव से च्युत नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव की भावना ही वीतरागी समाधि का उपाय है। अतः ज्ञानभावना करने का पूज्यपादस्वामी का उपदेश है।

ज्ञानी तो जानते हैं कि बाहर में चाहे मान का प्रसंग हो, चाहे अपमान का, मैं तो ज्ञान ही हूँ; अनुकूल प्रसंग के समय भी मैं तो 'ज्ञान' ही हूँ और प्रतिकूल प्रसंग के समय भी 'ज्ञान' ही मैं हूँ; सदैव मैं ज्ञानस्वभाव ही हूँ—ऐसी ज्ञानभावना के बल से ज्ञानी को राग-द्वेष का नाश होता जाता है और शांति-समाधि होती है। अतः—

अपूर्व शांति पाने के लिये आत्मा को पहचानो।

[अब आगे मान-अपमान के विकल्प दूर करने का उपाय दिखायेंगे।]

सम्यग्दर्शन की महिमा

संसार में मनुष्यपना दुर्लभ है; परंतु सम्यग्दर्शन तो उससे भी दुर्लभ है। मनुष्यपना प्राप्त करके भी सम्यक्त्वहीन जीव पुनः संसार में ही भटकता है... परंतु सम्यग्दर्शन ऐसी वस्तु है कि एक क्षण भी उसकी प्राप्ति करनेवाला जीव अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है; इसलिये ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय करना, वही इस दुर्लभ मानवजीवन का महान कर्तव्य है और उसके लिये ज्ञानी-धर्मात्माओं का सीधा सत्समागम सबसे बड़ा साधन है। जिन्हें सम्यग्दर्शन प्रगट करके इस असार संसार के जन्म-मरण से छूटना हो... और पुनः नौ महीने तक माता के पेट में न रहना हो, उन्हें सत्समागम से आत्मरुचिपूर्वक सम्यग्दर्शन का अभ्यास करना चाहिये।

मोक्षमार्ग में वीतरागी चारित्र के चमकार

सम्यग्दर्शन होते ही यद्यपि मोक्षसाधना का प्रारंभ हो चुका, किंतु साक्षात् मोक्ष को साधने के लिये सम्यक्त्व के उपरांत वीतरागचारित्र की आराधना भी अत्यंत आवश्यक है। चारित्रदशा पूज्य है। मोक्षमार्ग में चारित्र से सुशोभित आत्मा का कुछ वर्णन गतांक में आपने पढ़ा; शेष भाग यहाँ दिया जाता है।

जहाँ राग की रुचि है, वहाँ वीतरागी चैतन्य का अनादर है; अतः उसे चारित्र का भी अनादर है। सम्यग्दृष्टि अपने चैतन्यभाव में विकार के किसी भी अंश का स्वीकार नहीं करता; शुद्धता की जैसे-जैसे वृद्धि होती है, वैसे-वैसे राग का त्याग होता जाता है, यही मोक्ष का कारण है; और जो जीवदया आदि संबंधी शुभराग बाकी रह जाता है, वह तो पुण्यबंध का कारण है, मोक्ष का नहीं। इसप्रकार धर्मी जीव मोक्ष तथा बंध दोनों के कारण से भिन्न-भिन्न जानते हैं, उनका एक-दूसरे में मिलान नहीं करते।

अरे, अभी जीवों को वीतरागी तत्त्वज्ञान कितना दुर्लभ हो गया है! तत्त्वज्ञान के बिना मिथ्यात्व के महा अनर्थ में फँसे हुए जीव अपने को व्रती-चारित्री मानकर अन्य धर्मात्माओं का तिरस्कार करता है, वह तो महान दोष में पड़ा है, उसे जैनधर्म की पद्धति का ज्ञान नहीं है, जिनमत में मोक्षमार्ग का जो क्रम है, उसकी उसे खबर ही नहीं है। जैनधर्म में तो ऐसी पद्धति है कि पहले तत्त्वज्ञान हो, बाद में व्रत-चारित्र हो। सम्यग्दर्शन के पहले व्रत-चारित्र होने का जो मानता है, वह जैनधर्म के क्रम को नहीं जानता।

अहा, राग से रहित बेहद चैतन्यस्वभाव का सम्यग्दर्शन होते ही अनंतगुण का भंडार खुल गया, मोक्ष की किरणें प्रकाशमान हुई, अतीन्द्रियसुख की धारा बहने लगी; उसकी भूमिका शुद्ध हो गई; अब उसमें चारित्र का वृक्ष लगेगा और मोक्षफल पकेगा। सम्यग्दर्शनरूपी भूमिका के बिना चारित्र का वृक्ष कैसे होगा?-अतः मोक्ष के मार्ग में प्रथम सम्यक्त्व का उपदेश प्रधान है; सम्यग्दर्शन से ही हितपंथ का प्रारंभ होता है; इसके बिना शुभराग चाहे जितना करे तो भी किंचित्मात्र हित का पंथ हाथ में नहीं आता।

अहो! भगवान चैतन्यस्वभावी आत्मा, उसके शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय के बेहद सामर्थ्य की क्या बात! उसमें कहीं राग नहीं समाते। ऐसे सुंदर अपने स्वभाव को अपने में ही देखा,- तब भला! दुनिया के सामने क्या देखना?

* दुनिया के लोग 'भला' कहकर प्रशंसा करे-इससे कहीं आत्मा को लाभ नहीं हो जाता।

* और दुनिया के लोग 'बुरा' कहकर निंदा करे - इससे कहीं आत्मा की हानि नहीं हो जाती।

* अपने स्वभाव की साधना से अपने को लाभ है, और अपने विभाव से हानि है।

* स्वभाव में या विभाव में दुनिया के साथ कोई संबंध नहीं।

हे भाई! तेरे भाव को दुनिया के लोग माने या न माने, इससे तुझे क्या? तू राग-द्वेष-कषाय के द्वारा तेरे आत्मा की हिंसा न कर, और वीतरागी शांति का वेदन कर—यही तेरा प्रयोजन है। अहा, जहाँ चैतन्य का प्रेम हुआ कि कषाय के साथ 'कट्टी' हो गई; प्रशस्त या अप्रशस्त सभी रागभाव कषाय ही हैं; उनसे भिन्न चैतन्यभाव को जानकर इसका प्रेम जिसने किया, उसने मोक्ष के साथ मित्रता की; अब इस धर्मात्मा को जो राग शेष रहा, वह अत्यंत मन्द रसवाला होता है, अतः उसे तीव्र हिंसा-असत्य-चोरी-अब्रह्म-परिग्रह के पाप भाव नहीं होते। अहा, धर्मी श्रावक का जीवन तो कितना वैराग्यमय है? वह जिनेश्वर भगवंत का दास है तथा संसार से उदास है; वह अंतर की चैतन्यलक्ष्मी का स्वामी है तथा जगत से अजाचक है; मेरी सुख-समृद्धि का समस्त वैभव मेरे में ही है,—जगत में से मैं कुछ भी लेना नहीं चाहता,—ऐसी आत्मअनुभूति में जो मस्त है—वह श्रावक जगत के लोगों से निंदा या प्रशंसा सुनकर उसमें नहीं रुकता; लोगों का दल विरोध करे, इससे इस जीव को विभाव नहीं हो जाता, तथा लोगों का बड़ा जूथ प्रशंसा करे, इससे कहीं इस जीव को गुण नहीं हो जाते;—ऐसा जानकर वह समभावी श्रावक मध्यस्थ रह करके अपने हितपथ में ही आगे बढ़ता है।

मोह तथा कषाय में ही जिसका परिणाम लीन है, दुनिया के लोग उसकी प्रशंसा करे तो भी इससे उसको कुछ भी लाभ नहीं होगा।

और जिसका परिणाम मोहादि रहित शुद्ध वीतरागभावरूप है, दुनिया के लोग उसकी निंदा करे तो भी इससे उसकी कुछ भी हानि नहीं।

अहा, देखो तो सही आत्मा की स्वाधीनता! अपने भाव के अनुसार ही फल मिलता है। यदि अपने भाव में शुद्धता है तो शांति का लाभ है; और अपने भाव में अशुद्धता होना, यही हानि है। इसके सिवाय अपने आत्मा को लाभ-हानि करने का जगत में अन्य किसी का सामर्थ्य नहीं है। जितनी स्वभाव की सेवा, इतना लाभ; और जितना विभाव का सेवन, इतनी हानि; इसके अतिरिक्त अन्य कोई लाभ-हानि करनेवाला न होने से किसी के ऊपर राग-द्वेष करने का न रहा, अपने भाव में ही शुद्धता करने का आया। धर्मी के जैसे-जैसे शुद्धता होती जाती है, वैसे-वैसे हिंसादि भाव छूटते जाते हैं और अहिंसादि व्रत प्रगट होता है; उसी के अनुसार उसे श्रावकदशा या मुनिदशा होती है।

मोक्ष के महा आनंदमार्ग के पथिक धर्मात्माओं की दशा अचिंत्य अद्भुत होती है; उनकी चेतना जगत से न्यारी है। राग से रहित उनके ज्ञान में कोई अतीन्द्रिय विचक्षता होती है, वह ज्ञान अपने हित को कभी नहीं चूकता; वीतरागी-चारित्र का चमकार करता हुआ वह भवबन्धन तोड़ के मोक्ष में चला जाता है।

अहो, ऐसे चारित्रवंत वीतराग संत को मेरा नमस्कार है। (छहढाला प्रवचन से)

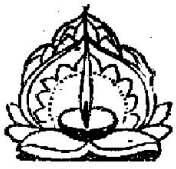

श्री माताजी के साथ में... महान आत्मलाभ

लेखक : मुमुक्षु बहन

भगवान महावीर के ढाई हजारवर्षीय निर्वाण महोत्सव के हर्षोपलक्ष में आयोजित निबन्ध-लेखन योजना में ६७ भाई-बहिनों ने उत्साह से भाग लिया है, जिनके नाम पहले छप चुके हैं। 'श्री मुनिराज के साथ में' सत्संग का लेख २९ भाईयों ने लिखा है; तथा 'माताजी के साथ में' सत्संग का लेख ३८ बहिनों ने लिखा है। आये हुए लेखों में से संशोधनपूर्वक कोई-कोई लेख यहाँ पर देते रहेंगे।

हमें एक बात ध्यान में रखना है कि ये निबंध भावनारूप हैं, अतः भावना के बल से हम हजारों वर्ष के अंतर को पार करके, मानों आज ही वे कुंदकुंद-धरसेन-समंतभद्र आदि मुनिभगवंत तथा साध्वी ब्राह्मी-सुंदरी-चंदना-सीतादि आर्यिकामातायें विचर रहे हों, और हम उनका साक्षात् सत्संग करते हुए उनकी सेवा का तथा तत्त्वचर्चा का लाभ ले रहे हो!-ऐसी कल्पना से इन लेखों का संकलन है और इनमें संतजनों के सहवास की भावना से ज्ञान-वैराग्य की पुष्टि का लाभ होता है। *(सं.)*

भगवान महावीर के समवसरण के साथ में विहार करते-करते ३६००० आर्यिका-संघ के शिरोमणि महासती चंदनामाताजी एक बार हमारी नगरी में पधारे... सर्वत्र आनंद छा गया। परम धीर-गंभीर-वैरागी माताजी की मुद्रा अध्यात्म के तेज से चमक रही थी। महाभाग्य से आज माताजी का आहारदान भी हमारे ही आंगन में हुआ था और हमें भक्ति का महान लाभ मिला था। आहारदान के बाद मैं और मेरी मुमुक्षु सखियाँ माताजी के साथ-साथ उनके संघ में गयी। अहा, ऐसी माताजी का संग किसको न गमे? वह तो जीवन का आनंदकारी प्रसंग है। दोपहर के समय चंदनामाताजी तथा अन्य सभी आर्यिकाजी सामायिक करती थी; वे तो चैतन्य का ध्यान करते-करते निर्विकल्प समरस पीती थी। उनकी निर्विकल्प ध्यानमुद्रा हमें बहुत

प्रिय लगती थी और हमें भी चैतन्य की ओर उत्साहित करती थी। हम भी गतानुगत उनकी तरह ध्यान लगाकर सामायिक करने बैठ गई। अहा, चैतन्य के महिमा का चिंतन करने में कोई विशिष्ट शांति दिखती थी। वीतरागता की कोई प्रशांत छाया वहाँ पर छा रही थी।

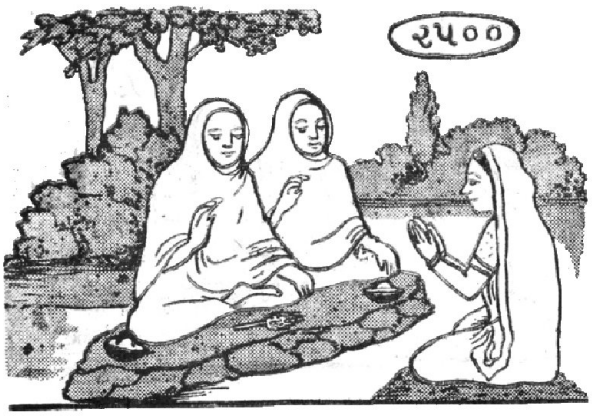

माताजी का ध्यान पूरा हुआ और हमने 'नमोस्तु-नमोस्तु' कहके माताजी के चरनों में वदन किया; तब माताजी ने हम पर वात्सल्यपूर्ण दृष्टि करके हमें धर्म का आशीर्वाद दिया। इसके बाद विनय से जिज्ञासापूर्वक मैंने पूछा - अहो माताजी! आपके दर्शन से महान आनंद होता है। हे माता! हमें यह जानने की जिज्ञासा है कि ऐसा दुर्लभ मनुष्यत्व तथा ऐसा उत्तम जैनधर्म पा करके, अब हमारे जीवन को सफल बनाने के लिये हमें क्या करना चाहिये ?—कृपा कर यह आप हमें दिखलाओ!

अत्यंत प्रसन्नतापूर्वक माताजी ने कहा : बहन, सुनो! तुम्हारी जिज्ञासा अच्छी है। ऐसा मनुष्य अवतार तथा ऐसा जैनधर्म पाकर हमें संसार की चारों गति का थाक उतारना है और मोक्षसुख का साधन करना है। आत्मा अनादिकाल से निजस्वरूप को भूल करके चारों गति में चक्कर लगाता हुआ दु:खी हो रहा है, अब ये भवभ्रमण के चक्कर से छूटने के लिये यह सुअवसर 'The best chance' मिला है; तो अब ऐसा करना चाहिए कि जिससे भवभ्रमण मिटे और आत्मा को शांति मिले।

मुमुक्षुबेन :- माताजी! ये भव के फेरे कैसे मिटे ?

माताजी :- बहन, इसके लिये पहले आत्मा को पहचानना चाहिये।

मुमुक्षुबेन :- हे माताजी! आत्मा का स्वरूप कैसा है ? यह हमें दिखाओ।

माताजी :- देखो बहन! देह से भिन्न यह आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, वह आँख से दिखने में नहीं आता, वह तो अतीन्द्रियज्ञान से ही दिखने में आता है। वह अरूपी, अपने गुण-पर्याय

सहित, उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप, वीतरागस्वभावी सत्-चित-आनंदस्वरूप है; इसके स्वभाव में परमात्मपद भरा है।

मुमुक्षुबेन :- हे माताजी! क्या हमारा आत्मा तथा परमात्मा दोनों समान है?

माताजी :- हाँ बहन! स्वभाव से समान है; और जो अपने स्वभाव को पहचानकर प्रयत्न करता है, वह आत्मा स्वयं ही परमात्मा बन जाता है; परमात्मपद कहीं बाहर से नहीं आता।

मुमुक्षुबेन :- माताजी, हमारा स्त्री का आत्मा भी भगवान हो सकता है क्या?

माताजी :- हाँ; जो भगवान हुए, वे भी पहले तो हमारी तरह संसार में ही थे; वे अपने आत्मस्वरूप को पहचानकर उसकी साधना से सिद्ध हुये और आज वे सिद्धालय में विराज रहे हैं। आत्मा को पहचानकर मोक्ष की साधना का प्रारंभ स्त्रीपर्याय में भी हो सकता है; और इसके बाद स्त्रीपर्याय को छेदकर अन्य भव में आत्मसाधना पूर्ण करके हमारा ही आत्मा भगवान हो जाता है।

मुमुक्षुबेन :- कैसे आनंद की बात है! आज उत्तममार्ग बतलाकर आपने हम पर बड़ा उपकार किया है। कृपा कर हमें और भी ऐसा विशेष उपदेश दीजिये—कि जिससे हम शीघ्र ही आत्मसाधना करें और इस संसारभ्रमण से हमारा छुटकारा हो।

माताजी :- सुनो बहन! आत्मा की ऊँडी जिज्ञासा से धर्मात्मा का संग करना चाहिये; संसार का परिचय छोड़ करके साधर्मी का परिचय बढ़ाना चाहिये। जिनमंदिर जाकर बहुमानपूर्वक शांति से भगवान अरिहंतदेव के स्वरूप का विचार करना चाहिये। सर्वज्ञवीतरागदेव का स्वरूप कैसा है? उनके तथा मेरे स्वरूप में किस प्रकार समानता है और कौनसा फर्क है! इसके विचार से आत्मा का शुद्धस्वरूप समझ में लेकर, सम्यग्दर्शन का बहुत गंभीर-गहरा-स्वोन्मुखी प्रयत्न करना चाहिये।

मुमुक्षुबेन :- माताजी, ऐसी स्त्रीपर्याय में सम्यग्दर्शन पाना कठिन लगता है!

माताजी :- बहन, यदि आत्मा की सच्ची लगन से प्रयत्न करोगी तो स्त्रीपर्याय में भी सम्यग्दर्शन अवश्य होगा। देखो ना! वीरप्रभु के संघ में ये ३६००० आर्यिकायें हैं, वे सभी स्त्री तो हैं! फिर भी आत्मा को पहचानकर, वे सब कैसी सुंदर आत्मसाधना कर रही हैं! स्त्रीपर्याय

देखके घबड़ाओ मत, किंतु आत्मा की जिज्ञासा को बढ़ाओ। स्त्रीपर्याय में केवलज्ञान नहीं होता, मुनिदशा नहीं होती, किंतु आत्मज्ञान हो सकता है। देखो, भगवान महावीर के जीव को सिंह की पर्याय में सम्यग्दर्शन हुआ था, भगवान पार्श्वनाथ के जीव को हाथी के भव में सम्यग्दर्शन हुआ था, तो फिर हमें तो मनुष्य अवतार मिला है!-अतः इसमें उत्साहपूर्वक वीतरागी देव-गुरु-धर्म की यथार्थ उपासना करके आत्मा का स्वरूप समझना, और सम्यग्दर्शन करके आत्मा को मोक्षमार्ग की साधना में लगा देना।

मुमुक्षुबेन :- माताजी! आपकी प्रशान्त वाणी सुनते ही हमारे आत्मा में सम्यग्दर्शन के लिये झनझनाहट हो जाती है—और अंतर में ऐसा होता है-मानों अभी ही आत्मा का अनुभव करके सम्यग्दर्शन पा लूँ।

माताजी :- अहो, सम्यग्दर्शन में तो बहुत ही गंभीरता भरी है। सम्यग्दर्शन होते ही चैतन्यस्वरूप पूरा आत्मा जैसा है, वैसा पूरा का पूरा ज्ञान में-श्रद्धान में आ जाता है, उसके अनंतगुण का स्वाद अनुभूति में आ जाता है, और निरंतर कोई अपूर्व शांति का वेदन रहा करता है। सम्यग्दर्शन में वीतरागता है; सम्यग्दर्शन होते ही आत्मा का हित तथा मोक्ष का मार्ग प्रारंभ हो जाता है। इसके लिये तीव्र जिज्ञासु होकर बार-बार ज्ञानी का संग तथा अनुभूति का प्रयोग करना जरूरी है। यही संत गुरुओं का आदेश है और यही उनका आशीर्वाद है। जो ऐसा करता है, उसने ही देव-गुरु का सत्य स्वरूप पहचाना और उसने ही अपना मनुष्य अवतार सार्थक किया।

मुमुक्षुबेन :- धन्य माताजी! सम्यग्दर्शन की महिमा सचमुच में अद्भुत एवं आश्चर्यकारी है, और यही करने योग्य है, किंतु जब तक वह न हो, तब तक हमें क्या करना चाहिये?

माताजी :- बहन, तुम्हारी जिज्ञासा अच्छी है, सम्यग्दर्शन के बिना अन्य किसी भी उपाय से आत्मा का कल्याण कदापि नहीं होता; अतः जब तक साक्षात् सम्यग्दर्शन की अनुभूति न हो, तब तक आत्मा की लगन, आत्मा का रस, आत्मा का प्रयत्न बढ़ाते ही रहना चाहिये। आत्मा की सच्ची लगन व भावना कभी निष्फल नहीं जाती, उसका उत्तम फल आता ही है। अतः बहुत ही तड़प से आत्मस्वभाव की सच्ची समझ का तथा उसकी अनुभूति का

प्रयोग करने में लगे रहना चाहिये, यही सम्यग्दर्शन का सत्य-सरल एवं सुखकर उपाय है। जैनधर्म पाकर जिसको आत्मसुख पाने की लगन लगी है, और सम्यग्दर्शन की महिमा जानकर उसमें ही मन लगा है, उसका प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं जायेगा, सफल ही होगा। चैतन्यस्वभाव और राग की पृथक्ता लक्षगत करके आत्मा का ज्ञान व अनुभूति करने के लिये जो बार-बार अभ्यास करता है, उस जीव को क्षण-क्षण मिथ्यात्व का रस टूटता जाता है, और चैतन्य का रस बढ़ता जाता है; उसकी एक भी क्षण फालतू नहीं जाती, मोह के तोड़ने का कार्य प्रत्येक क्षण में उसे हुआ ही करता है। जिसकी चेतना आत्मस्वभाव की ओर उल्लसित हुई, ज्ञानधारा का प्रवाह स्वभावसम्मुख बहने लगा, उस जीव को, पूर्व अनंत काल में जो नहीं हुई—ऐसी अपूर्व निर्जरा होने लगती है। ऐसे जीव के लिये श्री पद्मनंदी मुनिराज ने कहा है कि—

'अपने चित्त में चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रीतिपूर्वक जिसने उसकी वार्ता का श्रवण भी किया है, वह भव्य जीव अवश्य भाविनिर्वाण का भाजन होता है।' अर्थात् अल्प काल में ही सम्यग्दर्शन पा करके निर्वाणमार्ग में चलने लगता है। अतः आत्मा का उत्साह तथा प्रीतिपूर्वक उसके श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव का प्रयत्न करना; इससे अवश्य तुम्हारा कल्याण होगा।

पूज्य आर्यिका माताजी से सम्यक्त्व की चर्चा सुनकर सभी मुमुक्षु बहनों को बहुत प्रसन्नता हुई। तत्पश्चात् चंदनामाताजी के साथवाली दूसरी अर्जिका माताजी ने भी गंभीरता से कहा—बहनों! माताजी ने आत्मा की बहुत अच्छी बात समझायी है, ऐसा सुनहरा अवसर क्वचित ही मिलता है, अतः तुम आत्मार्थी होकर गहराई से इसका चिंतन करना। देहात्मबुद्धि से राग में सुख मानकर अनादिकाल से कषायों का ही वेदन किया है, इस कारण जीव ने सम्यक्त्व नहीं पाया और वह दुःखी ही हुआ। किंतु अब महाभाग्य से ऐसा महावीर-शासन पाकर, देह से भिन्न एवं राग से भी विलक्षण ऐसे परम चैतन्यलक्षणस्वरूप आत्मा को अनुभव में लेना; आत्मा का अनुभव करने के लिये अंतर में गंभीर होकर, प्राणी की बाजी लगा करके भी बारबार स्वभाव का ऊंडा अभ्यास करना, उसकी अपार महिमा को पहचानना; ऐसा करने से अल्पकाल में ही तुम्हें सम्यक्त्व होगा, अपूर्व सुख होगा और भवदुःख से छुटकारा होगा।

माताजी कह रही हैं : बहनों! अच्छे काम में विलंब करना ठीक नहीं होता, वैसे

धर्मसाधन में विलंब मत करना, आत्महित के कार्य में प्रमादी-असावधान नहीं होना। मैं कल करूँगा, पीछे करूंगा —ऐसा प्रमाद करने से आत्कल्याण नहीं होता। अनेक जीव ऐसे विचार में रुक जाते हैं कि हम बुड्ढे होंगे तभी धर्म करेंगे, परंतु रे जीव! क्या तेरे को यह निश्चय है कि तू वृद्ध होगा ही? क्या मालूम—वृद्धावस्था के पहले ही आयु खत्म हो जायेगी? और, अभी आत्महित की सावधानी नहीं करता तो फिर वृद्धावस्था में तो तू क्या करेगा? बहन, जीवन को क्षणभंगुर जानकर आत्मा की पहचान का कार्य सबसे पहले कर लेना चाहिये। इस क्षणभंगुर देह का क्या भरोसा? संयोग पलटते देर नहीं लगती। अरे, खारा समुद्र जैसा यह संसार, उसमें मीठा अमृत जैनधर्म मिला है। ज्ञानियों ने जहर के समान संसार को छोड़कर चैतन्य का अमृत चाख लिया है; अरिहंत जैसे अपने आत्मा को पहचान लिया।

एक छोटी बहन ने तत्त्वजिज्ञासा से पूछा—हे माताजी! अरिहंतदेव की पहचान से आत्मा की पहचान होने का कहा है; हम लोग अरिहंतदेव को तो बहुत समय से पूजते हैं; तो उनके परमार्थस्वरूप की ऐसी पहचान कराइये, जिससे हम आत्मा को पहचानकर सम्यक्त्व को पावें!

पूज्य माताजी ने कहा—बेटी, धन्य है तेरी जिज्ञासा को! छोटी उम्र में भी आत्मा की समझ का प्रेम जगना, यह अपूर्व हित का कारण है। सुनो! अरिहंतदेव का आत्मा सर्वज्ञ है, राग से रहित है; देह है सो अरिहंत नहीं है, वाणी या समवसरण भी अरिहंत नहीं है; अरिहंत तो आत्मा है, उनका द्रव्य चेतनमय है, उनके गुण चैतन्यमय हैं, और उनकी पर्यायें भी शुद्ध चैतन्यमय है,—इनमें कहीं राग नहीं है। ऐसे शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप अरिहंत का आत्मा है; उनकी पहिचान से, अपने आत्मा का भी परमार्थस्वरूप वैसा ही जानकर, आत्मा जब स्वोन्मुख होता है, तब द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के विकल्पों से भी पार होकर वह जीव निर्विकल्प अनुभूतिरूप सम्यग्दर्शन को पाता है। यह एक अपूर्व दशा है।

अहा, सर्वज्ञ-अरिहंत! उनके महिमा की क्या बात? उनको पहचाने, तभी सच्चा जैनत्व प्रारंभ होता है।

मुमुक्षु बहनों ने अत्यंत प्रसन्नता से कहा—वाह री वाह, माताजी! आज का प्रसंग हमारे लिये सुनहरा प्रसंग है। आज के आपके सत्संग से हमें सम्यक्त्व की ऐसी अपूर्व प्रेरणा मिली है

कि अब अल्पकाल में ही हम आपके आशीर्वाद से आत्मा को पहिचानेगी और सम्यक्त्व पावेंगी।

माताजी ने आशीर्वाद देकर कहा—अच्छा बहन! यही तो करने का है। पुण्य से करोड़ों रुपये का लाभ हो, इससे भी यह चैतन्य का लाभ मिलना, सो बड़ी अमूल्य चीज है; इसकी प्राप्ति लक्ष्मी से या पुण्य से नहीं हो सकती; पैसा एवं पुण्य, दोनों से पार अंतर की चैतन्यवस्तु के उल्लासपूर्वक इसकी प्राप्ति होती है; और एकबार ऐसी वस्तु का अपने में अनुभव किया, तब अपने आत्मा का ऐसा अचिंत्य निजवैभव देखा कि जिसके पास सारे संसार के वैभव की कुछ भी गिनती नहीं। ज्ञानीजन अपना ऐसा निजवैभव प्राप्त कर अन्य को भी दिखलाते हैं कि अरे जीव! तुम भी तुम्हारे आत्मा के ऐसे अद्भुत वैभव को तुम्हारे में देखो... देखो। चेतो... चेतो! ऐसा अवसर फिर मिलना बहुत कठिन है।

—यह शरीर तो मिट्टी का क्षणभंगुर ढिंगला है। ऊपर शृंगार से वह अच्छा दिखता है, भीतर में तो अशुचि का ढेर भरा है; और वह भी जब वृद्ध होता है, तब तो उसके ऊपर अलंकार भी शोभा नहीं पाते। जीव का सच्चा अलंकार तो सम्यग्दर्शन-रत्न है। जो आत्मा की सच्ची जिज्ञासा करेगा, वह अवश्य उसको पावेगा। अभी ही इसके लिये अवसर मिला है। यदि इस समय आत्मा की दरकार नहीं करेगा तो, जब बुढ़ापा आयेगा, तब तो इंद्रियाँ शिथिल हो जायेगी, आँखें काम नहीं करेगी, कान से सुना नहीं जायेगा, जिनमंदिर तक जाना भी अशक्य हो जायेगा, घर में तेरी बात कोई सुनेगा नहीं, तेरी वृद्धावस्था अन्य को बोझरूप लगेगी, अनेक रोग तथा व्याधियाँ शरीर को घेरा डालेगा—तब तू आत्महित में कैसे सावधान रहेगा?—इसप्रकार की वैराग्यपरिस्थिति का विचार करके अभी से ही सावधान हो, और सबसे ममत्व हटाकर शीघ्र अपने स्वघर में आ जा... अपने अनंतगुण के निजपरिवार को देख।

जीव ने अनादि से अपने को शरीरवाला ही मान रखा है; शरीर से रहित आत्मा का सच्चा स्वरूप कैसा है?—इसका उसने कभी विचार भी नहीं किया। देह के भरोसे अनंतबार जीवन व्यर्थ खो दिया। अरे, देह तो मिट्टी का पुतला... रोग का घर, जीवन बिजली की चमक जैसा क्षणभंगुर! इसमें सर्वोत्कृष्ट सच्चे देव-गुरु-धर्म का संग मिला, तो उनके द्वारा दिखलाये गये आत्मा को पहचान कर शीघ्र कल्याण कर लेना चाहिये। आत्मा की पहचान के उपरान्त संयमी जीवन जीना, सो उत्तम है। अतः माता चंदना कहती है कि—हे मुमुक्षु बहन! अन्तर के

गहराई में–जहाँ शांति का वेदन भरा है, उसमें उतरकर चैतन्यस्वरूप का संवेदन कर लेना, उसमें तुम्हें कोई अचिंतय आनंद की अनुभूति होगी।

सभी मुमुक्षु बहनें अत्यंत भक्ति के उल्लास से एक साथ कहने लगी—वाह माताजी! चैतन्यतत्त्व दिखलाकर आपने परम उपकार किया; बहुत समय से हम जिसकी खोज में थी, जीवन में जिसके लिये हमें इंतजार था, वह आनंदमय चैतन्यतत्त्व आज आपने हमको दिखलाया; हमारा संपूर्ण चैतन्य वैभव दिखाकर तथा उसको कैसे प्राप्त करना—यह भी समझाकर आपने सचमुच में हमारा कल्याण किया है। अहो, कल्याणीमाता! आपके उपकार का बदला किसी प्रकार नहीं हो सकता।

माता! चैतन्यतत्त्व की ऐसी सुंदरता सुनकर मेरा मन संसार से विरक्त हुआ है; अब चैतन्य की अनुभूति के अतिरिक्त इस संसार में कहीं भी क्षणमात्र चैन नहीं पड़ता, सब असार ही असार लगता है। पाँच इंद्रिय के विषय नीरस लगते हैं; अब इनके वश न होकर अतीन्द्रिय चैतन्यरस के बल से इनको जीतकर मैं सम्यग्दर्शन पाऊँगी। हे माता! अब मुझे एक क्षण भी इस संसार के परभाव में रहना नहीं जँचता; मैं आपके साथ में रहकर आपकी सेवा करूँ, आपके प्रसाद से आत्मा को समझकर अर्जिका बनूँ और मेरा जीवन धन्य बनाऊँ—ऐसी मेरी भावना है। अहा, आप जैसी माता का साथ मुझे मिला तो अब मैं दु:ख में या अज्ञान में कैसे रहूँ? अब तो शीघ्र भवदु:ख से छूटकर सिद्धपद पाऊँगी। धर्ममाता की गोद में मुमुक्षु बालक को चिंता कैसी? भव किसका? हे मोक्षसाधिका माता! तेरे को पाकर मैं तो मोक्षमार्ग में ही आ गई। अब आपके साथ ही साथ मोक्ष के मार्ग में चलती हुई मैं सिद्धपद प्राप्त करूँगी।

हमारे आत्मा का ऐसा उल्लास देखकर, माताजी ने बहुत वात्सल्य से हमारे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिये... माताजी के स्पर्श से हमारे आत्मा में चैतन्य की झनझनाहट हो उठी।

[अमृत जैसी मधुर वाणी से उपदेश देकर, तथा मंगल आशीर्वाद देकर चंदना–माताजी ने मेरे आत्मा को कल्याण की अपूर्व प्रेरणा दी; और दूसरे दिन उनके संघ ने अन्यत्र विहार किया। इसके बाद क्या हुआ?.... सुनो!]

अर्जिका माताजी के संग से मेरी आत्मा जाग उठी और अंतर की लगन से अध्यात्मरस में भीग गयी। संसार से विरक्त मेरे चित्त को अब कहीं चैन नहीं; वह तो बस, एक चैतन्य को ही रटता है, और इसके लिये अर्जिका माताजी के संग में रहना चाहता है। माताजी ने तो एक ही दिन के संसर्ग से मेरे को जगा दिया और आत्महित की अपूर्व प्रेरणा दी... तत्पश्चात् वे तो विहार कर गयीं।

दूसरे दिन जब मैं जिनमंदिर गयी और स्वाध्याय करने बैठी, तब भी मेरे हृदय में अर्जिका माताजी की आवाज सुनाई देती थी और अनुभूति के मधुर रस का घोलन चलता था; मैं अनुभूति के गहरे मंथन में उतर रही थी... इतने में मेरी धर्मसखी आ पहुँची, मेरे को देखते ही उसने कहा—दीदी! आज तुम कोई गंभीर वैराग्य के गहरे विचार में दिखती हो, तुम्हारी मुद्रा पर आज कोई अनोखी प्रसन्नता की झलक दिखती है; अवश्य कोई आनंदकारी प्रसंग बना है।—क्या हुआ है ?—मेरे को कहो।

मुमुक्षुबेन—सखी, तेरा अनुमान सत्य है। गत दिन महाभाग्य से मुझे परम वैरागी अर्जिका माताजी का सत्संग प्राप्त हुआ; माताजी की आत्मअनुभूति की गहरी झलक उनकी मुख-मुद्रा पर भी चमक रही थी। माताजी ने महान कृपाकर मुझे अनुभूति का रहस्य बताया। बस, तभी से अनुभूति के अतिरिक्त मेरे को कहीं चैन नहीं।

सखी ने कहा—वाह बहन! तेरी बात सुनकर मुझे भी बहुत आनंद हो रहा है। बहन, अनुभूति के उद्यम में मैं भी तेरे साथ हूँ, अत: माताजी से क्या चर्चा हुई-यह मेरे को कह।

सुनो बहन! माताजी के संग में तो अपूर्व लाभ मिला। माताजी को आहारदान दिया, माताजी की शांत ध्यानदशा देखी। अहा, कैसी निर्विकल्प मुद्रा थी!! वह तो चैतन्य की स्फुरणा जगाती थी; बाद में माताजी ने आशीर्वाद दिया, और मनुष्य अवतार की सार्थकता कैसे हो, यह दिखाया; आत्मा की अद्भुत आश्चर्यकारी महिमा दिखाकर सम्यग्दर्शन की रीत समझायी, तथा इसके लिये अंतर में गंभीर प्रयत्न करने की ऐसी जोशदार प्रेरणा माताजी ने दी कि, बस! आत्मा उस कार्य को साधने के लिये जी लगाकर तत्पर बना है, अब इसके बिना एक क्षण भी चैन नहीं।

सखी ने पूछा—बहन! माताजी ने चैतन्य को कैसे साधने का बतलाया ?

मुमुक्षु—सुनो बहन! जिसमें शांति भरी हुई है, ऐसे अपने आत्मा को देखने के लिये बारबार उत्सुकता करने का माताजी ने कहा; अपने गुण-पर्यायों से संपन्न आत्मा कैसा है? राग से रहित उसका ज्ञानस्वभाव कैसा है? यह लक्षगत करके अनुभव का प्रयोग करना चाहिये। आत्मा में परमात्मा होने की ताकत भरी हुई है, और उसकी साधना का प्रारंभ स्त्रीपर्याय में भी हो सकता है। इसके लिये आत्मा की बहुत जिज्ञासापूर्वक धर्मात्माजनों का सत्संग करना चाहिये। अरिहंत देव का आत्मा राग से रहित चैतन्यभावमय कैसा है? और वैसा ही स्वरूप अपने में किसप्रकार है?—इसकी यथार्थ पहचान करने से जीव को अवश्य सम्यग्दर्शन होता है। वीरप्रभु के शासन में हजारों-लाखों स्त्रियाँ भी ऐसे सम्यग्दर्शन को पा चुकी है, एवं अर्जिका भी बनी हैं। ऐसी माताओं का आदर्शजीवन देखकर हमें भी आत्मा की लगन लगाकर, आत्मा को मोक्षमार्ग में लगा देना चाहिये। बहन! सम्यग्दर्शन में अति गंभीरता तथा अपूर्व शांति है-उसकी महिमा समझकर, तीव्र धगश के साथ स्वानुभूति के प्रयोग में लगे रहना-यही सम्यग्दर्शन पाने का सत्य-सरल एवं सुखकर उपाय है।

ऐसा उपाय दिखाकर अंत में माताजी ने कहा कि—सच्ची लगन से और शांति की चाहना से यदि हम उसका प्रयत्न करेंगी तो वह कभी निष्फल नहीं होगा, उसका उत्तम फल जरूर आयेगा ही। अनुभूति के लिये प्रयत्न करते-करते हरेक क्षण में मिथ्यात्व का रस टूटता जाता है और चैतन्य का रस बढ़ता जाता है; इसी धारा से आगे बढ़ते-बढ़ते ज्ञानोपयोग स्वसन्मुख होकर मोह को तोड़ देता है, और अपूर्व सम्यक्त्व पा लेता है। अहा, बहन! परम वात्सल्यपूर्वक यह सब समझाकर माताजी ने तो मानो हमें साक्षात् सम्यक्त्व ही दे दिया हो!—ऐसा अपार हर्षोल्लास होता है।

'वाह बहन! तेरे पास से यह सब सुनकर मेरे को भी बहुत हर्ष हो रहा है; मेरा भी चित्त चैतन्य के प्रति एकदम उल्लसित हो रहा है, और ऐसा आह्लाद होता है-मानों अभी भी माताजी मेरे मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद दे रही हैं। बहन, अब तो हमें शूरवीर होकर माताजी के साथ में ही अरिहंतों के मार्ग में प्रविष्ट हो जाना है। मुनिपद का या केवलज्ञान का अवसर हमें इस भव में नहीं है परंतु सम्यग्दर्शन के लिये तो हमें अवसर मिला है। अतः सम्यग्दर्शन को पाकर हम अपना जीवन कृतार्थ करेंगी... आत्म-अनुभूति प्रगट करके माताजी के उपकार को आज ही सफल बनायेंगी।

—इसप्रकार दोनों साधर्मी-सखियाँ आत्मा की साधना में एक-दूसरे को प्रोत्साहित करती हुई आगे बढ़ती जाती हैं; चैतन्यस्वरूप की महानता को ज्ञान में लेती है; बीच में जो विकल्प रह जाता है, उसमें उन्हें अशांति दिखती है, अतएव उसको ज्ञान से पृथक् कर देती हैं। कभी-कभी चैतन्य की शांति का थोड़ा सा आभास हो जाता है, परंतु इतने में वह संतोष नहीं मान लेती; साक्षात् आनंदरूप अतीन्द्रिय शांति के वेदन के लिये वे आगे ही आगे बढ़ती चली जाती है; अनुभूति होने में कुछ देर लगने से वे निराश नहीं हो जाती, अपितु विशेष उत्साह से आगे बढ़ती है, उन्हें नि:शंकता है कि इसी मार्ग पर मैं उत्कट पुरुषार्थ करूँगी और शीघ्र ही मेरे को अवश्यमेव आत्मप्राप्ति होगी। इस वक्त मैं आत्मप्राप्ति किये बिना पीछे हटनेवाली नहीं हूँ, बीच में कहीं रुकनेवाली नहीं हूँ—'रुकना मेरा काम नहीं, चलना मेरी शान' इसप्रकार के निश्चयपूर्वक धैर्य से अंतर में अत्यंत सूक्ष्म बुद्धि से ज्ञान के तथा कषाय के स्वाद को अलग करती जाती है।

ऐसा करते-करते एक धन्य दिवस पर दोनों साधकसखी परम गंभीरता से आत्म-महिमा लक्षगत करके अनुभूति के उद्यम में मग्न हो गई... और परम शांति से अपने चैतन्यरस को कषायों से भिन्न करके उसका स्वाद लेने लगी।

[उनका कार्य समाप्त हुआ... अपना लेख भी समाप्त हुआ।]

——

आत्मधर्म अंक ३६२ पृष्ठ ८ पर जो गुजराती पंक्ति है, उसमें *दिनरात कहे* के स्थान पर *दिनरात रहे,* ऐसा पढ़ना।

अध्यात्मरस घोलन

['पाहुडदोहा' का अनुवाद]

[२]

नूतन शास्त्र की स्वाध्याय में आप पाहुड-दोहा का अनुवाद पढ़ रहे हो। यह दूसरा लेख है। सुगम अध्यात्मशैली का यह ग्रंथ पढ़कर जिज्ञासुओं ने प्रसन्नता व्यक्त की है।

५१. अहो, जो पर है, सो पर ही है; पर कभी आत्मा नहीं होता। शरीर तो दग्ध होता है, और आत्मा ऊपर चला जाता है, वह पीछे मुड़कर देखता भी नहीं। (इसप्रकार देह और आत्मा के सर्वथा भिन्नता है।)

५२. रे मूढ़! ये सब (शरीरादिक का संयोग) तो कर्मजंजाल है, वे कोई निष्कर्म नहीं है (-अर्थात् स्वाभाविक नहीं है।) देख! जीव चला गया किंतु देह कूटिर उसके साथ नहीं गई।—इस दृष्टांत से दोनों की भिन्नता देख।

५३. देहरूपी देवालय में जो शक्ति सहित देव वास करता है, हे योगी! वह शक्तिमान शिव कौन है? इस भेद को तू शीघ्र ढूँढ़।

५४. जो न जीर्ण होता है, न मरता है, न उपजता है, जो सबसे पर, कोई अनंत है, त्रिभुवन का स्वामी है और ज्ञानमय है—वह शिवदेव है—ऐसा तुम निर्भ्रांत जानो।

५५. शिव के बिना शक्ति का व्यापार नहीं हो सकता, और शक्तिविहीन शिव भी कुछ कर नहीं सकते; इन दोनों का मिलन होते ही मोह का नाश होकर सकल जगत का बोध होता है। (गुण-गुणी सर्वथा भिन्न रहकर कुछ कार्य कर सकते नहीं; दोनों अभेद होकर ही कार्य कर सकते हैं—ऐसा वस्तुस्वरूप और जैन-सिद्धांत है।)

५६. तेरा आत्मा ज्ञानमय है, उसके भाव को जबतक नहीं देखा, तबतक चित्त बेचारा दग्ध और संकल्प-विकल्प सहित अज्ञानरूप प्रवर्तता है।

५७. नित्य, निरामय ज्ञानमय परमानंद-स्वभावरूप उत्कृष्ट आत्मा जिसने जान लिया, उसको अन्य कोई भाव नहीं रहता। (अर्थात् ज्ञान से अन्य समस्त भावों को वह दूसरे का समझता है।)

५८. हमने एक जिन को जान लिया तो अनंत देव को जान लिया; इसके बिना जाने मोह से मोहित जीव दूर भ्रमण करता है।

५९. केवलज्ञानमय आत्मा जिसके हृदय में निवास करता है, वह तीन लोक में मुक्त रहता है, और उसे पाप नहीं लगता।

६०. बंधन के हेतु को जो मुनि न चिंतन करता है, न कहता है और न करता है (अर्थात् मन से-वचन से-काया से बंध के हेतु का सेवन नहीं करता), वही केवलज्ञान से स्फुरायमान शरीरवाला परमात्मदेव है।

६१. यदि अभ्यंतर चित्त मैला है तो बाहिर के तप से क्या लाभ? अतः हे भव्य! चित्त में कोई ऐसे निरंजनतत्त्व को धारण करो कि जिससे वह मैल से मुक्त हो जाये।

६२. विषय-कषायों में जाते हुए मन को रोककर निरंजनतत्त्व में स्थिर करो। बस! इतना ही मोक्ष का कारण है; दूसरा कोई तंत्र या मंत्र मोक्ष का कारण नहीं है।

६३. अरे जीव! खाता-पीता हुआ भी यदि तू शाश्वत् मोक्ष को पा जाये तो, भट्टारक ऋषभदेव ने सकल इंद्रिय-सुखों को क्यों त्यागा?

६४. हे वत्स! जब तक तेरा चित्त निरंजन परम-तत्त्व के साथ समरस-एकरस नहीं होता, तब तक ही देहवासना तुझे सताती है।

६५. जिसके मन में, सब विकल्पों का हनन करनेवाला ज्ञान स्फुरायमान नहीं होता, वह अन्य सब धर्मों को करे तो भी नित्य सुख कैसे पा सकता है?

६६. सब चिंताओं को छोड़कर जिसके मन में परमपद का निवास हो गया, वह जीव आठ कर्मों का हनन करके परमगति को पाता है।

६७. तू गुणनिलय आत्मा को छोड़कर ध्यान में अन्य को ध्याता है, परंतु हे मूर्ख! जो अज्ञान से मिश्रित है, उसमें केवलज्ञान कहाँ से होगा?

६८. केवल आत्मदर्शन ही परमार्थ है और सब व्यवहार है। तीन लोक का जो सार है, ऐसे एक इस परमार्थ को ही योगी ध्याते हैं।

६९. आत्मा ज्ञान-दर्शनमय है; अन्य सब जंजाल है;—ऐसा जानकर हे योगीजनों! मायाजाल को छोड़ो।

७०. जगतिलक आत्मा को छोड़कर जो परद्रव्य में रमण करते हैं... तो क्या मिथ्यादृष्टियों के माथे पर सींग होते होंगे? (श्रेष्ठ आत्मा को छोड़कर पर में रमण करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि ही है।)

७१. हे मूढ़! जगतिलक आत्मा को छोड़कर तू अन्य किसी का ध्यान मत कर। —जिसने मरकत मणि को जान लिया, वह क्या काँच को कुछ गिनता है?

७२. हे वत्स! शुभ परिणाम से धर्म (पुण्य) होता है, और अशुभ परिणाम से अधर्म (पाप) होता है; (-इन दोनों से तो जन्म होता है।) किंतु इन दोनों से विवर्जित जीव पुनः जन्म धारण नहीं करता—मुक्ति प्राप्त करता है।

७३. हे योगी! कर्म तो स्वयं मिलते हैं और स्वयं बिछुड़ते हैं (क्षणभंगुर हैं) ऐसा निःशंक जान;—क्या चंचलस्वभाव के पथिकों से कहीं गाँव बसते हैं? (पथिक तो रास्ते में मिलते हैं और बिछुड़ते हैं, उनसे कहीं गाँव नहीं बसते; उसीप्रकार संयोग-वियोगरूप ऐसे क्षणभंगुर पुद्गल-कर्मों से चैतन्य का नगर नहीं बसता। आत्मा को ये कर्मों के संयोग-वियोग से भिन्न जानो।)

७४. हे जीव! यदि तू दुःख से भयभीत है तो अन्य को जीव मत मान (दूसरे जीव को तेरे से भिन्न जान), तथा अन्य का चिंतन मत कर। क्योंकि तिल के तुषमात्र भी शल्य अवश्य वेदना करता है।

७५. जैसे सूर्य घोर अंधकार को एक निमेष मात्र से नष्ट कर देता है, उसीप्रकार आत्मा की भावना करने से पाप एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं।

७६. हे जोगी! जिसके हृदय में जन्म-मरण से रहित एक परमदेव निवास करता है, वह परलोक को (सिद्धपद को) प्राप्त करता है।

७७. जो जीव, पुराने कर्मों को खपाता है, नये कर्मों का प्रवेश नहीं होने देता, तथा जो परम निरंजन तत्त्व को नमस्कार करता है, वह स्वयं परमात्मा बन जाता है।

७८. आत्मा जब तक निर्मल होकर परम निरंजनस्वरूप को नहीं जानता, तब तक ही वह पापरूप परिणमता है, और तभी तक कर्मों को बाँधता है।

७९. आत्मा ही उत्कृष्ट निरंजन देव है; आत्मा ही दर्शन-ज्ञान है, आत्मा ही सच्चा मोक्षपथ है;—ऐसा हे मूढ़! तू जान।

८०. लोक कुतीर्थ में तभी तक परिभ्रमण करते हैं और तभी तक धूर्तता करते हैं, जब तक वे गुरु के प्रसाद से देह में ही रहे हुए देव को नहीं जान लेते।

८१. हे जीव! तभी तक तू लोभ से मोहित होकर विषयों में सुख मानता है-जब तक गुरुप्रसाद से अविचल बोध को नहीं पाता।

८२. जिससे विशेष बोध (भेदज्ञान) उत्पन्न न हो—ऐसे तीन लोक संबंधी ज्ञान से भी जीव बहिरात्मा ही रहता है, और उसका परिणाम असुंदर है—अच्छा नहीं।

८३. आत्मा और कर्म के बीच में भेदज्ञान की दृढ़ रेखा खींच लेना चाहिये, अर्थात् जैसा पढ़ा वैसा करना चाहिये; चित्त को इधर-उधर भटकाना नहीं चाहिये—ऐसा करनेवाले को आत्मा में से कर्म दूर हो जाते हैं।

८४. जो विद्वान आत्मा का व्याख्यान तो करते हैं परंतु अपना चित्त उसमें नहीं लगाता, तो उसने अनाज के कणों से रहित बहुत सा पयाल संग्रह किया।

८५. पंडितों में पंडित ऐसा हे पंडित! यदि तू ग्रंथ और उसके अर्थों में ही संतुष्ट हो गया है किंतु परमार्थ-आत्मा को जानता नहीं, तो तू मूर्ख है; तूने कण को छोड़कर तुष को ही कूटा है।

८६. जो मोक्ष के सच्चे कारण को तो जानते नहीं, और मात्र अक्षर के ज्ञान से ही गर्वित होकर घूमते हैं वे तो, जैसे वंश बिना का वेश्यापुत्र जहाँ-तहाँ हाथ लंबाकर भीख माँगता भटकता है-उसके जैसे है।

८७. हे वत्स! बहुत पढ़ने से क्या है? तू ऐसी ज्ञानचिंगारी प्रगटाना सीख ले—जो प्रज्वलित होते ही पुण्य और पाप को क्षणमात्र में भस्म कर दे।

८८. सभी कोई सिद्धत्व के लिये तड़फड़ाता है; पर वह सिद्धत्व की प्राप्ति चित्त की निर्मलता से ही होती है।

८९. मलरहित ऐसे केवली अनादि स्थित है, उनके अंतर में (ज्ञान में) समस्त जगत संचार करता है, परंतु उनके बाहर कोई भी नहीं जा सकता।

९०. जब आत्मा, आत्मा में ही परिस्थित हो

जाता है, तब उसे कोई लेप नहीं लगता, और उसके जो कोई महादोष हो, वे भी सब नाश हो जाते हैं।

९१. हे योगी! योग लेकर फिर यदि तू धंधे में नहीं पड़ेगा तो, जिसमें तू रहता है, वह देहरूप कुटीर का क्षय हो जायेगा, और तू तो अक्षय रहेगा।

९२. रे मनरूपी हाथी! तू इंद्रिय-विषय के सुखों में रति मत कर। जिनसे निरंतर सुख नहीं मिलता उनको तू क्षणमात्र में छोड़ दे।

९३. न राजी हो, न रोष कर, न क्रोध कर। क्रोध से धर्म का नाश होता है; धर्म के नाश होने से नरकगति होती है, तथा मनुष्यजन्म निष्फल जाता है।

९४. साढ़े तीन हाथ की देरी में संत-निरंजन बसता है; बालजीवों उसमें प्रवेश कर सकते नहीं; तू निर्मल होकर उसको ढूंढ़।

९५. मन को सहसा मोड़ लेने से (स्वसन्मुख करने से) आत्मा और पर का मिलान नहीं होता; परंतु जिसकी इतनी भी शक्ति नहीं है—वह मूर्ख योगी क्या करेगा?

९६. योगी जो निर्मल ज्योति को जगाते हैं, वही योग है, किंतु जो इंद्रियों के वश हो जाता है, वह तो श्रावकलोक है।

९७. हे जीव! तू बहुत पढ़ा, पढ़-पढ़कर तेरा तालू भी सूख गया, फिर भी तू मूर्ख ही रहा।—अब तू एक ही उस अक्षर को पढ़ कि जिससे शिवपुरी में गमन हो।

९८. श्रुतियों का अंत नहीं है, काल थोड़ा है, और हम मन्दबुद्धि हैं; अतः केवल इतना ही सीखना योग्य है कि जिससे जन्म-मरण का क्षय हो।

९९. निर्लक्षण (-इंद्रियग्राह्य लक्षणों से पार), स्त्री से रहित, ओर जिसके कोई कुल नहीं है—ऐसा आत्मा मेरे मन में बस गया है; जिससे अब, इंद्रियविषयों में संस्थित मेरा मन वहाँ से पीछे हट गया है।

१००. मैं सगुण हूँ, और मेरा पियु तो निर्गुण, निर्लक्षण तथा निःसंग है; अतः वे एक ही अंग में बसते हुए भी एक-दूसरे के अंग से अंग का मिलन नहीं होता। [रजोगुण-तमोगुण आदि गुणवाली विकारी पर्याय, और शुद्धआत्मपियु —ये दोनों एक वस्तु में रहते हुए भी उनकी एकरूपता नहीं होती—ऐसा भाव समझ में आता है। [क्रमशः]

समस्त अन्य द्रव्यों से आत्मा को भिन्न करनेवाला आत्मा का स्वरूप-अस्तित्व कैसा है ?

श्री प्रवचनसार गाथा १५४ में पर से भिन्न आत्मा का स्वरूप-अस्तित्व दिखलाते हुए श्री आचार्यदेव कहते हैं कि अपने चैतन्यमय अस्तित्व में रहे हुए ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप अथवा द्रव्य-गुण-पर्यायरूप विविध स्वभाव को जो जानता है, वह जीव अन्य द्रव्य में किंचित् भी मोह नहीं करता; क्योंकि वह अपने समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को अपने में देखता है तथा पर के द्रव्य-गुण-पर्यायों को पर में देखता है, उनका संबंध मेरे से नहीं है—ऐसा वह जानता है, अतः उसे पर में कहीं भी एकत्वबुद्धिरूप मोह नहीं होता।

जगत में एक अपना आत्मा ही स्वतत्त्व है, तथा अन्य समस्त जीव-अजीव अनंत परतत्त्व हैं; ऐसे स्व-पर ज्ञेय विद्यमान सत् हैं।

उनमें से इस आत्मा का अस्तित्व अन्य सभी से पृथक् स्वतंत्र है—जो कि अपनी चेतना से ही जाना जाता है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है—यही इसका स्वरूप-अस्तित्व है। चैतन्यस्वरूप आत्मा का यह अस्तित्व कैसा है ? वह अपने चैतन्यरूप द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में रहा हुआ है, अथवा अपने चैतन्यरूप उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों से तन्मय है; इसप्रकार अपने त्रिविधस्वभाव में आत्मा का अस्तित्व है। इससे बाहर अन्यत्र कहीं आत्मा का अस्तित्व नहीं है।

देखिये, अपने अस्तित्व में अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों समाये हुए हैं, एवं उत्पाद-व्यय-ध्रुवता तीनों ही उसमें समा जाते हैं—किंतु वे तीनों चैतन्यस्वरूप हैं।—ऐसे स्वरूप से अपने आत्मा को पहचानना चाहिये।

धर्मी जीव पर से भिन्न अपने स्वरूप का ऐसा चिंतन करता है कि—चेतनभाव से जो ध्रुव रहता है, तथा पूर्व-उत्तर के व्यतिरेकरूप ऐसे उत्पाद-व्यय में भी जो तन्मय है, इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों में रहे हुए चेतनस्वरूप से मेरा अस्तित्व है। मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ही स्वभाव मेरे अस्तित्व में समाते हैं। ऐसा मेरा अस्तित्व, अन्य सभी से अत्यंत भिन्न है।

—इसप्रकार चेतनलक्षण के द्वारा अन्य समस्त पदार्थों से अपने अस्तित्व को अत्यंत

भिन्न देखनेवाला जीव, अपने चैतन्यभाव को रागादि अन्य भावों से भी जुदा जानता है। चैतन्यभाव को अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव से या द्रव्य-गुण-पर्याय से जुदा नहीं जानता, ये तीनों तो अपना स्वभाव ही है—ऐसा वह जानता है। ऐसे सम्यग्ज्ञान के बिना आत्मा को मध्यस्थता, वीतरागता या प्रशमता नहीं हो सकती। सम्यग्ज्ञान का फल तो प्रशम की प्राप्ति है।

चैतन्यमय द्रव्य-गुण-पर्याय में स्थित, अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रुव में रहे हुए अपने स्वरूप-अस्तित्व को ही धर्मी जीव स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिये अवधारित करते हैं। ऐसे द्रव्यस्वभाव को जानने से परद्रव्य के प्रति मोह नहीं रहता और राग-द्वेषरहित प्रशांतभाव प्रगट होता है।

१. चेतनत्व का अन्वय जिसका लक्षण है, सो द्रव्य;

२. चेतना-विशेष जिसका लक्षण है, वह गुण;

३. चेतनत्व का व्यतिरेक जिसका लक्षण है, वह पर्याय;

— धर्मी जानते हैं कि ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों स्वरूप में रहा हुआ मैं हूँ, यही मेरा अस्तित्व है; मेरे ऐसे स्वभाव के द्वारा अन्य समस्त पदार्थों से मैं अत्यंत भिन्न हूँ।

उसीप्रकार जगत के समस्त अन्य द्रव्य भी सब अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में ही रहे हुए हैं; उनके साथ मेरा कोई भी संबंध नहीं है।

उन द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व का संबंध अर्थात् एकत्व उनके ही अस्तित्व के साथ है, मेरे साथ नहीं।

मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व का संबंध अर्थात् एकत्व मेरे ही अस्तित्व से है; अन्य के साथ नहीं।

देखो, यह है वस्तुस्वरूप का भेदज्ञान, और यह है स्व-पर का सच्चा विभाग; इसी को कहते हैं—वीतराग-विज्ञान! यह मंगलरूप है, और यह वीरशासन की देन है।

मैं कर्ता होकर दूसरे के द्रव्य-गुण-पर्याय में कुछ भी करूँ,
अथवा दूसरा कर्ता होकर मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय में कुछ भी करे।

— ऐसा स्व-पर के एकत्व का मोह धर्मी जीव को बिल्कुल नहीं होता। अतः मुमुक्षु

को चाहिये कि स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिये जिनप्रवचन के अनुसार अपने ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायमय स्वरूप-अस्तित्व का निश्चय करें।

चेतन या अचेतन सभी पदार्थ अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाववाले हैं; उनके उस स्वभाव में ही उनका अस्तित्व है।

मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव को मैं अन्य से भिन्न जानता हूँ; मेरे स्वभाव में ही मेरा अस्तित्व है।

ऐसी भिन्नता को जाननेवाला ज्ञान अपने अगाध गंभीर स्वरूप को अपने ही में देखता हुआ, उसकी अतीन्द्रिय शांति का वेदन करता है; अतः जो सम्यग्ज्ञान है, वह अतीन्द्रिय आनंद की छापवाला है।

अहा! देखो तो सही, यह सर्वज्ञ के मार्ग का विज्ञान कितना स्पष्ट है! पदार्थ के स्वरूप का यह विज्ञान जीव के मोह को दूर करके वीतरागता कराता है; वीतरागता से अतीन्द्रिय सुख मिलता है। अतः जिनमार्ग का ऐसा वीतरागी-विज्ञान निरंतर अभ्यास करनेयोग्य है।

अशरीरी चैतन्यके ध्यानसे आत्मा अशरीरी-सिद्ध बन जाता है—

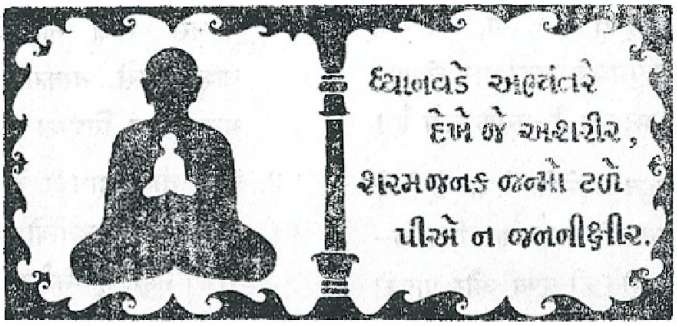

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल (सोनगढ़) की बैठक

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षुमंडल-संघ-समाज को सूचना दी जाती है कि सोनगढ़ में श्री जैन अतिथि सेवा समिति की, तथा मुमुमुमहामंडल की कार्यवाहक कमिटि की बैठक, एवं महामंडल की सामान्य सभा निम्न दिवस पर रखी गयी है, प्रतिनिधिओं को उपस्थित रहने के लिये सूचना है—सभी बैठक प्रवचनमंडप में होगी।

कार्यवाही—

(१) सन् १९७४-७५ का वार्षिक हिसाब, कमिटि का हिसाब एवं अहेवाल मंजूर करना।

(२) सन् १९७५-७६ के लिये नये बजट मंजूर करना।

(३) प्रमुखश्री की आज्ञा से अन्य जो कार्य उपस्थित हो।

बैठक के दिवस—

(१) श्री जैन अतिथि सेवा समिति दिनांक ६-९-७५ शनिवार, प्रातः ९.१५

(२) कार्यवाहक समिति : दिनांक ६-९-७५ शनिवार, प्रातः ९.४५

(३) मुमुक्षु महामंडल की सामान्य सभा दिनांक ७-९-७५ रविवार, प्रातः ९.१५

(४) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर के ट्रस्टियों की बैठक दिनांक ७-९-७५ रविवार, ४.१५

तदुपरांत दिनांक ६-९-७६ को ४.१५ पर जैन विद्यार्थीगृह के ट्रस्टीगण तथा व्यवस्थासमिति की बैठक होगी एवं दिनांक ७-९-७५ के दिन ९.४५ पर सामान्य सभा होगी।

लि.	लि.
नेमिदास खुशाल	नवनीतलाल चुनीलाल जवेरी
ट्रस्टी, जैन विद्यार्थीगृह, सोनगढ़	प्रमुख, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल, सोनगढ़

सोनगढ़ के समाचार :— पूज्य कानजीस्वामी सोनगढ़ में सुखशांतिपूर्वक विराज रहे हैं, अध्यात्मरस की सुंदर वर्षा हो रही है। प्रवचन में सुबह के समय श्री प्रवचनसार चलता है—जिसमें १७२वीं गाथा पर २० बोल का अच्छा प्रवचन चल रहा है। दोपहर में अभी समाधिशतक चल रहा है जो इस सप्ताह में पूर्ण हो जायेगा, इसके बाद नियमसार पर प्रवचन

होगा। अतः सोनगढ़ आनेवाले जिज्ञासु लोग अपना नियमसार तथा प्रवचनसार शास्त्र साथ में लेते आवें।

पूज्य गुरुदेव का प्रवचन श्री परमागम मंदिर में होता है। श्री वर्द्धमानप्रभु की व कुन्दकुन्दप्रभु की मंगल छाया में धर्मसभा का शांत वातावरण देखते ही बनता है। चारों तरफ परमागमों के बीच में बैठते ही जिनवाणी की मधुर वीतरागी झँकार कानों में गूँजने लगती है। वीरप्रभु के २५०० वर्षीय निर्वाणोत्सव के महान वर्ष में, वीरप्रभु के ही परमागम मंदिर में बैठकर उनकी वाणी का श्रवण करना परम सौभाग्य की बात है... आईए.... जिनवाणी सुनिये... वीतरागीरस पीजिये।

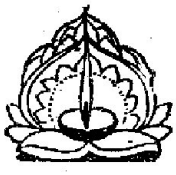

तत्त्वज्ञान की दस बातें

(१) आत्मा की अमरता को जाने तो मरण का भय मिट जाये।

(२) मरण को जाननेवाला स्वयं कभी नहीं मरता।

(३) शरीर आया और गया, आत्मा तो वही रहा।

(४) आत्मा को आत्मा का वियोग कभी नहीं होता।

(५) शरीर के वियोग से कहीं आत्मा का वियोग नहीं होता।

(६) सिद्ध भगवंत सदाकाल शरीर के बिना ही जी रहे हैं।

(७) देह-गुफा में आत्मा विद्यमान है, उसे लक्ष में ले।

(८) सिद्ध भगवान को ढूँढ़ने के लिये अंतर्मुख होकर आत्मा में देखो।

(९) शरीर आता है-जाता है, परंतु आत्मा कभी शरीररूप नहीं होता।

(१०) राग में कभी सुख नहीं है और वीतरागता में कभी दुःख नहीं है।

हिन्दी-साहित्य

[जो उपलब्ध है]

नियमसार-शास्त्र	५-५०
प्रवचनसार (वृंदावनजी)	२-५०
समयसार-प्रवचन (भाग १)	४-५०
समयसार-प्रवचन (भाग २)	४-५०
समयसार-प्रवचन (भाग ३)	५-००
मोक्षमार्गप्रकाशक	५-००
पुरुषार्थसिद्धिउपाय	३-५०
श्रावकधर्मप्रकाश	३-००
धर्म की क्रिया	२-००
ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव	३-००
अष्टप्रवचन (भाग १)	१-५०
अष्टप्रवचन (भाग २)	१-५०
छहढाला सचित्र	१-५०
छहढाला (मूल मात्र)	०-३०
जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला : १	१-००
जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला : २	१-५०
जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला : ३	०-७५
लघु जैनसिद्धांत प्रवेशिका	०-४०
आत्मअवलोकन	३-००
तत्त्वज्ञानतरंगिणी	५-००
अहिंसा परमो धर्मः	०-५०
अलिंगग्रहण-प्रवचन	१-६०
भगवान महावीर	०-१५
जैनबालपोथी (भाग १)	०-५०
जैनबालपोथी (भाग २)	०-४०

गुजराती-साहित्य

[जो उपलब्ध है]

आत्मधर्म (वार्षिक लवाजम)	६-००
मंगलतीर्थयात्रा (सचित्र)	६-००
समयसार-प्रवचन (भाग १)	४-००
आत्मवैभव (४७ शक्ति प्रवचन)	३-५०
आत्मभावना (समाधिशतक प्रवचन)	३-२५
आत्मसिद्धिप्रवचन	३-२५
अनुभवप्रकाश-प्रवचनो	२-५०
पुरुषर्थसिद्धिउपाय	२-००
मोक्षमार्ग-प्रकाशकनां किरणो (भाग-२)	१-९५
सम्यग्ज्ञान-दीपिका	१-५०
सम्यग्दर्शन (भाग-५)	१-५०
सम्यग्दर्शन (भाग-६)	३-००
श्री जिनेन्द्र-स्तवनमंजरी	२-००
श्री जिनेन्द्र-भजनमाला	१-२५
श्री जिनेन्द्र स्तवनावली	१-००
श्री कानजीस्वामी (जीवनपरिचय)	१-००
बृहद्द्रव्यसंग्रह	४-००
नियमसार-शास्त्र	५-५०
परमागम-प्रतिष्ठा महोत्सवनुं वर्णन	१-२५
पंच परमागमनी प्रसादी	२-५०
नाटक-समयसार	४-५०
जैनसिद्धांत-प्रश्नोत्तरमाला	२-५०

ENGLISH JAIN PRIMER	०-५०
आत्मधर्म-वार्षिक चंदा	६-००
समाधितंत्र (छोटा)	०-५५

❀ इसके अतिरिक्त जयपुर-टोडरमल स्मारक भवन से प्रकाशित साहित्य भी मिल सकता है।

❀ पुस्तक भेजने का खर्च अलग समझना चाहिये।

❀ पुस्तकें उधार नहीं भेजी जाती। कमीशन नहीं दिया जाता। सूचना आने पर पुस्तकें वी.पी.पी. से भेजी जाती हैं।

❀ पुस्तक मँगाते समय उसके मूल्य का ड्राफ्ट अथवा एम.ओ. भेजना चाहिये।

❀ ड्राफ्ट आदि में 'दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट' नाम लिखना चाहिये।

—पत्र व्यवहार का पता—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) ३६४२५०

———

जो प्रेस में छप रहे हैं—

प्रवचनसार (पौने मूल्य में दी जायेगी)
पंचास्तिकाय (पौने मूल्य में दी जायेगी)
समयसार, दसलक्षणपूजन,
पंचपरमेष्ठी विधान

सरनामुं—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) ३६४२५०

रत्नसंग्रह (१०० रत्नो)	०-८०
रत्नसंग्रह (भाग-२)	०-८०
वीतरागविज्ञान भाग-३ :	
छहढाला प्रवचन	१-००
दर्शनकथा	०-५०
जिनेन्द्रपूजन पल्लव	०-५०
प्रवचन सार-हरिगीत	०-३५
समवसरण-स्तुति	०-२५
शूरवीर-साधक	०-२५
समाधिशतक दोहरा	०-१५
समाधिशतक (गुटको)	०-४५
भगवान महावीर	०-१५
आलोचना (पद्मनंदी)	०-२०
लघुजैनसिद्धान्त प्रवेशिका	०-३०
अखंड आराधना (मृत्यु महोत्सव)	०-५०
सर्वसामान्य-प्रतिक्रमण	०-९०
अलिंगग्रहण प्रवचन	०-७५
आत्मधर्म (कायमी सभ्य)	१०१-००
सम्यक्त्व-कथा (सचित्र)	१-००
बे सखी (अंजना चरित्र)	०-५०
अहिंसा परमोधर्मः	०-५०
जैनबालपोथी (इंग्लिश मां)	०-५०
साधक शतक माला	०-५०

जिनवाणी के वांचनकार की शैली कैसी हो ?

(संपादकीय)

आज हमारे महान भाग्य से भगवान महावीर का वीतरागी शासन जोरशोर से चल रहा है; पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रभाव से आज भारत में जगह-जगह पर अध्यात्मतत्त्व समझने के लिये हजारों जिज्ञासु जीव जागृत हुए हैं और वीरप्रभु का वीतरागसंदेश सुनने के लिये आतुर हैं; अनेक जगह जिज्ञासु विद्वानबंधु वांचन करने के लिये जाते हैं।

किसी भी जगह वीतरागी जिनवाणी का वांचन चलता हो, वहाँ एक अत्यंत महत्त्व की यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि हरएक शास्त्रसभा में श्री देव-गुरु तथा जिनवाणी की महिमा प्रसिद्ध होनी चाहिये। देव-गुरु-शास्त्र के लिये कहीं भी, किसी भी अपेक्षा के बहाने से कटु शब्द का या अविनयसूचक शब्द का प्रयोग बिल्कुल नहीं करना चाहिये; कथनशैली मधुरभाषा में होना चाहिये। कोई वक्ता अत्यंत कड़े शब्द का प्रयोग करते हैं-जिससे कि क्षोभ पैदा होता है—ऐसे उपदेश को सत्य उपदेश नहीं कहा जाता, क्योंकि सत्य का उपदेश 'मधुर' होना चाहिये। सत्य भी यदि कषायपूर्वक कहा जाये तो शास्त्र उसको 'असत्य' की ही कक्षा में गिनते हैं। पंचास्तिकाय के मंगलाचरण में जिनराज को नमस्कार करते हुए श्री कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि जिनदेव का उपदेश दोषरहित तथा 'मधुर' है। वीतराग उपदेश में मधुरता होती है, कटुता नहीं।

वीतरागमार्ग का उपदेश ऐसी मधुर भाषा में होता है—मानो शांतरस का प्रवाह ही वह रहा हो। दूसरे लोग नरम भाषा में नहीं समझाते, इसलिये हम कड़ी भाषा में कहते हैं—ऐसी दलील उचित नहीं है। समयसार में आचार्यदेव ने स्पष्ट कहा है कि देह से भिन्न आत्मा है—ऐसी बात का विरोध करनेवाले के प्रति भी मिठासपूर्वक तथा समभाव से ही उपदेश देना। 'हम तो स्पष्टवक्ता है, कड़ी भाषा के बिना लोग नहीं समझते' ऐसी दलील से भी कटु भाषा में उपदेश देना उचित नहीं है।

उपदेश में प्रहारात्मक या खंडनामक पद्धति को नहीं अपनाना चाहिये; कदाचित सैद्धांतिक मतभेद के बारे में स्पष्टता करनी पड़े तो वह भी अत्यंत मधुरता से, शांति से, कषायजन्य भाषाप्रयोग के बिना अच्छी तरह से हो सकती है। आत्मिक महिमा को लक्ष में रखकर ही शांतरस की प्रधानता से शास्त्रप्रवचन होना चाहिए, तभी स्व-पर के हित का कारण बनता है।

अहा, जो भाषा संपूर्ण वीतरागतत्त्व का उपदेश देनेवाली हो, वह जिनप्रवचन की भाषा भी वीतरागरस से भीगी हुई अत्यंत मधुर होती है। आत्मा के शांतरस का स्पर्श करके निकलती हुई वाणी भी शांत होती है, उसमें कषाय के उद्रेक नहीं होते। जैसे तीर्थंकरों की वाणी परम शांतरस की निर्झरनी होती है, जैसे वीतराग मुनिवरों की वाणी परम वीतरागरसवाहिनी होती है, वैसे उन देव-गुरुओं के अनुसार जो उपदेश दिया जाये, वह भी मधुरभाषा में अत्यंत शांतरसपूर्वक होना चाहिये। इसलिये तो जिनवाणी को अमृत की उपमा दी गई है।

साधर्मी-साधर्मीजनों के बीच में जहाँ वाँचन-विचार चलता हो वहाँ, वाँचनकार ने अपने आपको अन्य साधर्मी श्रोताजनों से अधिक नहीं मान लेना चाहिये। सभी साधर्मीजनों को समान समझकर उनसे वात्सल्यपूर्वक विचार-चर्चा करना चाहिये; श्रोताओं को अपने से हीन मानकर उनसे उपेक्षा या तुच्छकारपूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिये। जिज्ञासु श्रोता कुछ कहना चाहते हो तो धैर्य से-प्रेम से उनकी बात सुनना चाहिये।

वक्ता को अपनी भूमिका की मर्यादा का ध्यान रखना चाहिये तथा उनका जीवन ऐसे सदाचार से सुशोभित होना चाहिये—कि जिससे जिनशासन की शोभा बढ़े। किसी त्यागी या विद्वान के ऊपर कटाक्ष या वाक्प्रहार करना नहीं चाहिये। 'प्रियवचन की हो टेव...' किसी को लागनी को ठेस न पहुँचे-कोई को क्लेश का कारण न हो- इसप्रकार अत्यंत शांतभाव से मध्यस्थतापूर्वक वस्तुस्थिति को समझाना चाहिये। कहीं पर किसी कारण से चाहे जैसा भीतरी मतभेद या मनभेद हो, उसको परमवात्सल्यधर्म के पवित्र जल में धो देना चाहिये, और साफ मन से सभी साधर्मी के साथ हिलमिलकर प्रेमव्यवहार करना चाहिये।

हम लोग यह सब अत्यंत स्पष्टता से करेंगे, तभी मुमुक्षुपना शोभा पायेगा, और तभी वीतराग-जिनवाणी के वांचन-श्रवण के लिये सुयोग्य परिस्थिति का निर्माण होगा; ऐसे प्रसन्न वात्सल्यपूर्ण परिस्थिति में सच्ची मुमुक्षुता से जब वांचन-विस्तार होगा, तभी जिनवाणी-मैया प्रसन्न होकर हमें सम्यक्त्वादि उत्तम फल देगी।

श्री जिनवाणी माताजी के प्रति विनय के लिये, तथा इनके पास से उत्तमफल प्राप्त करने के लिये, हमारे परिणाम में बहुत विशुद्धता-सरलता-मध्यस्थता एवं शांति आवश्यक है। अहा, हमारी माता कौन ?—वीतरागी जिनवाणी ! तो इनके पुत्र को शोभा दे, ऐसा हमारा जीवन होना चाहिये।

अस्तु। इतनी बात साधर्मीजनों के प्रति अंतर के सच्चे वात्सल्य से लिखी है।

जय महावीर।

आत्मधर्म : आपका प्रिय आध्यात्मिक पत्र

'आत्मधर्म' ३२ साल से प्रतिमास गुजराती तथा हिन्दी भाषा में प्रकाशित होता है।

'आत्मधर्म' शुद्ध जैनमार्ग को प्रसिद्ध करके आत्महित की रीत दिखलाता है।

'आत्मधर्म' की इस समय हिन्दी-गुजराती मिलकर ६१०० प्रतियाँ छपती हैं।

१०१) रुपये देनेवाले स्थायी ग्राहकों की संख्या ४१६ है। भारत के बाहर विदेशों में १३० प्रतियाँ जाती हैं। वार्षिक चंदा (जो कि लागत से भी आधा है) छह रुपये भरकर आप भी 'आत्मधर्म के ग्राहक परिवार' में प्रविष्ट हो जाईये। आत्मधर्म का नियमित वाँचन आपको अनोखी शांति प्रदान करेगा। सभी जीवों के आत्महित को लक्ष में रखकर उत्तमशैली से इसका संपादन होता है। वह किसी विवाद में नहीं पड़ता।

आत्मधर्म यह मुमुक्षुओं के मनोरथ को पुष्ट करनेवाला भारत का एकमात्र पत्र है; उत्तम कक्षा का वीतरागी साहित्य उसके पन्ने-पन्ने पर अंकित रहता है। जिज्ञासु पाठकों के ही सहयोग से संस्था इस पत्र को आधे मूल्य में देती है; तदुपरांत जिज्ञासुओं के विशेष सहकार के अनुसार कभी-कभी अधिक पृष्ठ भी दिये जाते हैं। हमारे पास वीतरागीसाहित्य का बड़ा भंडार भरा है एवं श्रीगुरुप्रताप से नित-नवीन प्रवचन मिला करती है। आत्मधर्म में वह साहित्य ज्यादा से ज्यादा परोसा जा सके इसलिये सभी के सहकार की अपेक्षा है। आप ४०१) रुपये भेजकर आत्मधर्म की ३१०० प्रतियों में एक फार्म (आठ पृष्ठ) कुछ अंदाज पच्चीस हजार पन्ने आपकी ओर से अधिक दे सकते हैं। आधे फार्म के खर्च के लिये २०१) भी स्वीकार किये जाते हैं।

आज के जमाने में आपकी लक्ष्मी वीतरागीसाहित्य के प्रचार में काम आये—इससे बढ़कर दूसरा कोई अच्छा उपयोग इसका नहीं है। पूज्य गुरुदेव भी बारबार कहते हैं कि अभी तो वीतरागी तत्त्वज्ञान का अधिक से अधिक प्रचार हो और समाज को ऐसा साहित्य कम से कम मूल्य में प्राप्त हो—ऐसा करना चाहिये।

पता—आत्मधर्म कार्यालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) ३६४२५०

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (३६३)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) प्रति ३०००